राहुल सांकृत्यायन की उपलब्ध पुस्तकें

विस्मृत यात्री
दाखुंदा
वोल्गा से गंगा
बहुरंगी मधुपुरी
अनाथ
अदीना
तुम्हारी क्षय
सोने की ढाल
साम्यवाद ही क्यों?
दिवोदास
घुमक्कड़ शास्त्र
अकबर
सिंह सेनापति
जय यौधेय
भागो नहीं दुनिया को बदलो
सूदखोर की मौत
घुमक्कड़ स्वामी

दर्शन-दिग्दर्शन
माओ चे तुंङ्ग
इस्लाम धर्म की रूपरेखा
विस्मृत के गर्भ में
किन्नर देश में
तीन नाटक
राजस्थानी रनिवास
कार्ल मार्क्स
बाइसवीं सदी
तिब्बत में बौद्ध धर्म
जिनका मैं कृतज्ञ
निराले हीरे की खोज
जीने के लिये
बौद्ध दर्शन
दिमागी गुलामी
मेरे असहयोग के साथी
वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली

ISBN 81-225-0087-0

वोल्गा से गंगा

राहुल सांकृत्यायन

किताब महल

प्रथम संस्करण : 1942
प्रस्तुत संस्करण : 2011

ISBN : 81-225-0087-0

मुख्य वितरक

1. किताब महल एजेन्सीज
22 सरोजनी नायडू मार्ग
इलाहाबाद - 211001
फोन : 0532-2423466, 2424154
E-mail : abhargava@kitabmahalpublishers.com

2. किताब महल पब्लिशर्स
8, हरि सदन, (ग्राउण्ड फ्लोर)
20, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
फोन : 011-23273230;
फैक्स : 011-23289285
E-mail : pandey@kitabmahalpublishers.com

3. किताब महल एजेन्सीज
अशोक राजपथ
पटना-800004
फोन : 0612-2303531

Publisher & Distributors
SAMYAK PRAKASHAN
32/3, Paschim Puri, N. Delhi-63
Mob.: 9810161823, 9810249452

मूल्य : 120.00 रुपए

प्रकाशक : किताब महल, 22-A, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद।
visit : www.kitamahalpublishers.com; Email : info@kitalmahalpublishers.com

मुद्रक : किताब महल प्रिन्टिंग डिवीजन, 22, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद।

द्वितीय संस्करण पर दो शब्द

सात-आठ महीनों के भीतर प्रथम संस्करण खत्म हो जाना लेखक के लिए सन्तोष की बात है, और उससे भी संतोष की बात है, पुराणपंथियों की वह तिलमिलाहट जो कभी असंयत बकवासों और गालियों के रूप में निकल पड़ती है। लेकिन मैं समझता हूँ, गालियों की मात्रा अभी बहुत कम है। कुछ सज्जनों ने संयम रखने का काफी असफल प्रयत्न करते पंडिताऊ आलोचना करने की कोशिश की है, और लेखक से आशा रखी है कि वह उसके उत्तर में अपनी लेखनी उठाये। वैसे लेखक की लेखनी विश्राम करना नहीं जानती, मगर कुछ लिखने के लिए उत्तर देने के लिये हो भी तो ! लेखक की एक-एक कहानी के पीछे उस युग के संबंध की वह भारी सामग्री है जो दुनिया की कितनी ही भाषाओं, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, मिट्टी, पत्थर, ताँबे, पीतल, लोहे पर सांकेतिक वा लिखित साहित्य, अथवा अलिखित गीतों, कहानियों, रीति-रिवाजों, टोटके-टोनों में पाई जाती है। पुस्तक लिखते वक्त और आज भी लेखक की इच्छा है कि उस सामग्री के स्रोतों का निर्देश परिशिष्ट के रूप में दिया जाये, किन्तु काम कुछ इतना बड़ा मालूम होता है कि समय के ख्याल से हाथ खींच लेना पड़ता है। और फिर वह इसी जिल्द का परिशिष्ट भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह इस पुस्तक से बड़ा ही होगा। तो भी इस ओर मेरा ख्याल है जरूर।

इस संस्करण में परिवर्तन बहुत ही कम करना पड़ा है, एक तरह मैंने जहाँ-तहाँ छू भर दिया है। मैं चाहता था, हर कहानी के साथ एक-एक रंगीन चित्र हो, मगर युद्धकालीन कठिनाइयाँ उसकी इजाजत नहीं देती।

किताब महल
प्रयाग

राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य में महापंडित राहुल सांकृत्यायन का नाम इतिहास प्रसिद्ध और अमर विभूतियों में गिना जाता है। राहुल जी की जन्मतिथि ९ अप्रैल, १८९३ ई० और मृत्युतिथि १४ अप्रैल, १९६३ ई० है। राहुल जी का बचपन का नाम केदारनाथ पाण्डे था। बौद्ध दर्शन से इतना प्रभावित हुए कि स्वयं बौद्ध हो गये। 'राहुल' नाम तो बाद में पड़ा—बौद्ध हो जाने के बाद। 'सांकत्य' गोत्रीय होने के कारण उन्हें राहुल सांकृत्यायन कहा जाने लगा।

राहुल जी का समूचा जीवन घुमक्कड़ी का था। भिन्न-भिन्न भाषा साहित्य एवं प्राचीन संस्कृत-पाली-प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं का अनवरत अध्ययन-मनन करने का अपूर्व वैशिष्ट्य उनमें था। प्राचीन और नवीन साहित्य-दृष्टि की जितनी पकड़ और गहरी पैठ राहुल जी की थी—ऐसा योग कम ही देखने को मिलता है। घुमक्कड़ जीवन के मूल में अध्ययन की प्रवृत्ति ही सर्वोपरि रही। राहुल जी के साहित्यिक जीवन की शुरुआत सन् १९२७ ई० में होती है। वास्तविकता यह है कि जिस प्रकार उनके पाँव नहीं रुके, उसी प्रकार उनकी लेखनी भी निरन्तर चलती रही। विभिन्न विषयों पर उन्होंने १५० से अधिक ग्रंथों का प्रणयन किया है। अब तक उनके १३० से भी अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। लेखों, निबन्धों एवं भाषणों की गणना एक मुश्किल काम है।

राहुल जी के साहित्य के विविध पक्षों को देखने से ज्ञात होता है कि उनकी पैठ न केवल प्राचीन-नवीन भारतीय साहित्य में थी, अपितु तिब्बती, सिंहली, अंग्रेजी, चीनी, रूसी, जापानी आदि भाषाओं की जानकारी करते हुए तत्तत् साहित्य को भी उन्होंने मथ डाला। राहुल जी जब जिसके सम्पर्क में गये, उसकी पूरी जानकारी हासिल की। जब वे साम्यवाद के क्षेत्र में गये, तो कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्तालिन आदि के राजनीतिक दर्शन की पूरी जानकारी प्राप्त की। यही कारण है कि उनके साहित्य में जनता, जनता का राज्य और मेहनतकश मजदूरों का स्वर प्रबल और प्रधान है।

राहुल जी बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न विचारक हैं। धर्म, दर्शन, लोकसाहित्य,

यात्रासाहित्य, इतिहास, राजनीति, जीवनी, कोश, प्राचीन तालपोथियों का सम्पादन आदि विविध क्षेत्रों में स्तुत्य कार्य किया है। राहुल जी ने प्राचीन के खण्डहरों से गणतंत्रीय प्रणाली की खोज की। 'सिंह सेनापति' जैसी कुछ कृतियों में उनकी यह अन्वेषी वृत्ति देखी जा सकती है। उनकी रचनाओं में प्राचीन के प्रति आस्था, इतिहास के प्रति गौरव और वर्तमान के प्रति सधी हुई दृष्टि का समन्वय देखने को मिलता है। यह केवल राहुल जी थे जिन्होंने प्राचीन और वर्तमान भारतीय साहित्य-चिन्तन को समग्रतः आत्मसात् कर हमें मौलिक दृष्टि देने का निरन्तर प्रयास किया है। चाहे साम्यवादी साहित्य हो या बौद्ध दर्शन, इतिहास-सम्मत उपन्यास हो या 'वोल्गा से गंगा' की कहानियाँ—हर जगह राहुल जी की चिन्तक वृत्ति और अन्वेषी सूक्ष्म दृष्टि का प्रमाण मिलता जाता है। उनके उपन्यास और कहानियाँ बिलकुल एक नये दृष्टिकोण को हमारे सामने रखते हैं।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि राहुल जी न केवल हिन्दी साहित्य अपितु समूचे भारतीय वाङ्मय के एक ऐसे महारथी हैं जिन्होंने प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य, दर्शन एवं राजनीति और जीवन के उन अछूते तथ्यों पर प्रकाश डाला है जिन पर साधारणतः लोगों की दृष्टि नहीं गई थी। सर्वहारा के प्रति विशेष मोह होने के कारण अपनी साम्यवादी कृतियों में किसानों, मजदूरों और मेहनतकश लोगों की बराबर हिमायत करते दीखते हैं।

विषय के अनुसार राहुल जी की भाषा-शैली अपना स्वरूप निर्धारित करती है। उन्होंने सामान्यतः सीधी-सादी सरल शैली का सहारा लिया है जिससे उनका सम्पूर्ण साहित्य—विशेषकर कथा-साहित्य—साधारण पाठकों के लिए भी पठनीय और सुबोध है।

प्रस्तुत पुस्तक 'साम्यवाद ही क्यों ?' में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने साम्यवाद से सम्बंधित जानकारी कराने की कोशिश की है। समाज का विकास होते-होते एक मंजिल पर साम्यवाद क्यों आ गया—इसे इतिहास चक्र का एक अध्याय कहा जा सकता है। विश्व में साम्यवाद लाने के लिए पर्याप्त कारक उसी तरह मौजूद हो गये थे जिस तरह पूँजीवाद के लिए हो गये थे। दरअसल साम्यवाद के मूल में भयंकर दरिद्रता प्रमुख कारण रही है। आज का आधुनिक विज्ञान भी साम्यवाद का समर्थन करता है। लेखक

ने अपनी भूमिका में लिखा है—"जो दो-तीन घंटे में साम्यवाद को समझना चाहते हैं, उनके लिए यह प्रवेशिका है।" पहले संस्करण की भूमिका से—"लेखक के एक मित्र से बात चलते कहा था—'साम्यवाद ही क्यों' अच्छा होगा, किन्तु 'साम्यवाद कैसे होगा' इस पर भी लिखना चाहिए।..... मैंने उस पर कई बार सोचा, किन्तु मैं अपने को उसके लिए बिलकुल अयोग्य और ना-तैयार समझता हूँ।" साम्यवाद के बारे में इस पुस्तक से जिज्ञासुओं को पर्याप्त जानकारी मिलेगी—ऐसा विश्वास है।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१.	निशा (६००० ई०पू०)	१
२.	दिवा (३५०० ई०पू०)	१५
३.	अमृताश्व (३००० ई०पू०)	३०
४.	पुरुहूत (२५०० ई०पू०)	४४
५.	पुरुधान (२००० ई० पू०)	६३
६.	अंगिरा (१८०० ई०पू०)	७३
७.	सुदास् (१५०० ई० पू०)	८६
८.	प्रवाहण (७०० ई० पू०)	१०६
९.	बन्धुल मल्ल (४६० ई०पू०)	१२१
१०.	नागदत्त (३३५ ई०पू०)	१३६
११.	प्रभा (५० ई०पू०)	१६१
१२.	सुपर्ण यौधेय (४२० ई०)	१८६
१३.	दुर्मुख (६३० ई०)	२०७
१४.	चक्रपाणि (१२०० ई०)	२२२
१५.	बाबा नूरदीन (१३०० ई०)	२३६
१६.	सुरैया (१६०० ई०)	२५५
१७.	रेखा भगत (१८०० ई०)	२७१
१८.	मंगल सिंह (१८५७ ई०)	२८८
१९.	सफदर (१९२२ ई०)	३०६
२०.	सुमेर (१९४२ ई०)	३२६
	परिशिष्ट	३४३

देश : वोल्गा-तट(ऊपरी)
जाति : हिन्दी-योरोपीय
काल : ६००० ईसा पूर्व

१

दोपहर का समय है, आज कितने ही दिनों के बाद सूर्य का दर्शन हुआ। यद्यपि इस पाँच घंटे के दिन में उसके तेज में तीक्ष्णता नहीं है, तो भी बादल, बर्फ, कुहरे और झंझा से रहित इस समय चारों ओर फैलती सूर्य की किरणें देखने में मनोहर और स्पर्श से मन में आनन्द का संचार करती हैं। चारों ओर का दृश्य ? सघन नील-नभ के नीचे पृथ्वी कर्पूर-सी श्वेत हिम से आच्छादित है। चौबीस घंटे से हिमपात न होने के कारण, दानेदार होते हुए भी हिम कठोर हो गया है। यह हिमवसना धरती दिगन्त-व्याप्त नहीं है, बल्कि यह उत्तर से दक्षिण की ओर कुछ मील लम्बी रुपहली टेढ़ी-मेढ़ी रेखा की भाँति चली गई है, जिसके दोनों किनारों की पहाड़ियों पर काली वनपंक्ति है। आइये, इस वनपंक्ति को कुछ समीप से देखें। उसमें दो तरह के वृक्ष ही अधिक हैं—एक श्वेत-बल्कलधारी, किन्तु आजकल निष्पत्र भुर्ज (भोजपत्र); और दूसरे अत्यन्त सरल उत्तुङ्ग, समकोण पर शाखाओं को फैलाये अतिहरित या कृष्ण-रहित सुई-से पत्तों वाले देवदारु। वृक्षों का कितना ही भाग हिम से ढँका हुआ है, उनकी शाखाओं और स्कन्धों पर जहाँ-तहाँ रुकी हुई बर्फ उन्हें कृष्ण-श्वेत बना आँखों को अपनी ओर खींचती है।

और ? भयावनी नीरवता का चारों ओर अखंड राज्य है। कहीं से न झिल्ली की झंकार आती है, न पक्षियों का कलरव, न किसी पशु का ही शब्द।

आओ, पहाड़ी के सर्वोच्च स्थान के देवदारु पर चढ़कर चारों ओर देखें। शायद वहाँ बर्फ, धरती, देवदारु के अतिरिक्त भी कुछ दिखाई पड़े। क्या यहाँ बड़े-बड़े वृक्ष ही उगते हैं ? क्या इस भूमि में छोटे पौधों, घासों के लिए स्थान नहीं है ? लेकिन इसके बारे में हम कोई राय नहीं दे सकते। हम जाड़े के दो भागों को पारकर अन्तिम भाग में हैं। जिस बर्फ में ये वृक्ष गड़े हुए—से हैं, वह कितनी मोटी है, इसे नापने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। हो सकता है, वह आठ हाथ या उससे भी अधिक मोटी हो। अबकी साल बर्फ ज्यादा पड़ रही है, यह शिकायत सभी को है।

देवदारु के ऊपर से क्या दिखलाई पड़ता है ? वही बर्फ, वही वनपंक्ति, वही ऊँची-नीची पहाड़ी भूमि। हाँ, पहाड़ी की दूसरी ओर एक जगह धुआँ उठ रहा है। इस प्राणी-शब्द-शून्य अरण्यानी में धूम का उठना कौतूहल-जनक है। चलो, वहाँ चलकर अपने कौतूहल को मिटायें।

धुआँ बहुत दूर था, किन्तु स्वच्छ निरभ्र आकाश में वह हमें बहुत समीप मालूम होता था। चलकर अब हम उसके नजदीक पहुँच गये हैं। हमारी नाक में आग में पड़ी हुई चर्बी तथा मांस की गन्ध आ रही है। और अब तो शब्द भी सुनाई दे रहे हैं—ये छोटे बच्चों के शब्द हैं। हमें चुपचाप पैरों तथा साँस की भी आहट न देकर चलना होगा, नहीं तो वे जान जायेंगे, और फिर न जाने किस तरह का स्वागत वे खुद या उनके कुत्ते करेंगे।

हाँ, सचमुच ही छोटे-छोटे बच्चे हैं, इनमें सबसे बड़ा आठ साल से अधिक का नहीं है, और छोटा तो एक वर्ष का है। आधे दर्जन लड़के और एक घर में। घर नहीं यह स्वाभाविक पर्वत-गुहा है, जिसके पार्श्व और पिछले भाग अन्धकार में कहाँ तक चले गये हैं, इसे हम नहीं देख रहे हैं, और न देखने की कोशिश करनी चाहिए ! और सयाने आदमी ? एक बुढ़िया जिसके सन जैसे धूमिल श्वेत केश उलझे तथा जटाओं के रूप में इस तरह बिखरे हुए हैं कि उसका मुँह उनमें ढँका हुआ है। अभी बुढ़िया ने हाथ से अपने केश को हटाया। उसकी भौहें भी सफेद हैं, श्वेत चेहरे पर झुर्रियां पड़ी हुई हैं, जो जान पड़ती हैं सभी मुँह के भीतर से निकल रही हैं। गुहा के भीतर आग का धुआँ और गर्मी भी है, खासकर जहाँ बच्चे और हमारी दादी हैं। दादी के शरीर पर कोई वस्त्र नहीं, कोई आवरण नहीं। उसके दोनों सूखे—से हाथ पैरों के पास धरती पर पड़े हुए हैं। उसकी

आँखें भीतर घुसी हैं, और हलके नीले रंग की पुतलियाँ निस्तेज शून्य-सी हैं, किन्तु बीच-बीच में उनमें तेज उछल जाता है जिससे जान पड़ता है कि उनकी ज्योति बिलकुल चली नहीं गई है। कान तो बिलकुल चौकन्ने मालूम होते हैं। दादी लड़कों की आवाज को अच्छी तरह सुन रही जान पड़ती है। अभी एक बच्चा चिल्लाया, उसकी आँख इधर घूमी। बरस-डेढ़-बरस के दो बच्चे हैं, जिनमें एक लड़का और एक लड़की, कद दोनों के बराबर हैं। दोनों के केश जरा-सा पीलापन लिए सफेद हैं, बुढ़िया की भाँति; किन्तु ज्यादा चमकीले, ज्यादा सजीव। उनका शरीर पीवर पुष्ट, अरुण गौर, उनकी आँखें विशाल, पुतलियाँ घनी नीली। लड़का चिल्ला-रो रहा है, लड़की खड़ी एक छोटी हड्डी को मुँह में डाले चूस रही है। दादी ने बुढ़ापे के कम्पित स्वर में कहा—

"अगिन ! आ। यहाँ आ अगिन ! दादी यहाँ।"

अगिन उठ नहीं रहा था। उस समय एक आठ बरस के लड़के ने आकर उसे गोद में ले दादी के पास पहुँचाया। इस लड़के के केश भी छोटे बच्चे के से ही पांडु-श्वेत हैं, किन्तु वे अधिक लम्बे हैं, उनमें अधिक लटें पड़ी हुई हैं। उसके आपाद-नग्न शरीर का वर्ण भी वैसा ही गौर है, किन्तु वह उतना पीवर नहीं है; और उसमें जगह-जगह काली मैल लिपटी हुई है। बड़े लड़के ने छोटे बच्चे को दादी के पास खड़ा कर कहा—

"दादी ! रोचना ने हड्डी छीनी। अगिन रोता।"

लड़का चला गया। दादी ने अपने सूखे हाथों से अगिन को उठाया। वह अब भी रो रहा था उसके आँसुओं की बहती धारा ने उसके मैले कपोलों पर मोटी अरुण रेखा खींच दी थी। दादी ने अगिन के मुँह को चूम-पुचकार कर कहा—"अगिन ! मत रो। रोचना को मारती हूँ"—और एक हाथ को नंगी, किन्तु वर्षों के चर्बी से सिक्त फर्श पर पटका। अगिन का "ऊँ-ऊँ" अब भी बन्द न था; और न बन्द थे आँसू। दादी ने अपनी मैली हथेली से आँसुओं को पोंछते हुए अगिन के कपोलों की अरुण पंक्ति को काला बना दिया। फिर रोते अगिन को बहलाने के लिए सूखे चमड़े के भीतर झलकती हुई ठठरियों के बीच कुम्हड़े की सूखी बतिया की भाँति लटकते चर्ममय स्तनों को लगा दिया। अगिन ने स्तन को मुँह में डाला, उसने रोना बन्द कर दिया। उसी समय बाहर से बातचीत की आवाज आने

लगी। उसने शुष्क स्तन से मुँह खींचकर ऊपर झाँका। किसी की मीठी सुरीली आवाज आई—

"अगि-ि-ि-न"

अगिन फिर रो उठा। दो जनियों (स्त्रियों) ने सिर पर लादे लकड़ी के गट्ठर को एक कोने में पटका। फिर एक रोचना के पास और दूसरी अगिन के पास भाग गईं। अगिन ने और रोते हुए "माँ-माँ" कहा। माँ ने दाहिने हाथ को स्वतंत्र रखते हुए दाहिने स्तन के ऊपर साही के काँटे-से गुँथे सफेद बैल के सरोम चमड़े को खोलकर नीचे रखा। जाड़े की भोजन-कृच्छ्रता के कारण उसके तरुण शरीर पर मांस कम रह गया था, तो भी उसमें असाधारण सौन्दर्य था। उसके लाल मैल-छुटे कपोल की अरुण-श्वेत छवि, ललाट को बचाते बिखरे हुए लट-विहीन पांडु-श्वेत केश, अल्प-मांसल पृथुल वक्ष पर गोल-गोल श्यामल-मुख स्तन, अनुदर कृश-कटि, पुष्ट मध्यम-परिमाण नितम्ब, पेशीपूर्ण बर्तुल जंघा, श्रमधावन-परिचित हलाकार पेंडुली। उस अष्टादशी तरुणी ने अगिन को दोनों हाथों में उठाकर उसके मुख, आँख और कपोल को चूमा। अगिन रोना भूल चुका था। उसके लाल होठों में से निकल कर सफेद दँतुलियाँ चमक रही थीं, उसकी आँखें अर्धमुद्रित थीं, गालों में छोटे-छोटे गड्ढे पड़े हुए थे। नीचे गिरे वृषभ-चर्म पर तरुणी बैठ गई और उसने अगिन के मुँह में अपने कोमल स्तनों को दे दिया। अगिन अपने दोनों हाथों से पकड़े स्तन को पीने लगा। इसी समय दूसरी नग्न तरुणी भी रोचना को लिए पास आकर बैठ गई। उनके चेहरे को देखने से ही पता लग जाता था कि दोनों बहनें हैं।

२

गुहा में उन्हें निभृत बातचीत करते छोड़ हम बाहर आ देखते हैं। बर्फ पर चमड़े से ढँके बहुत से पैर एक दिशा की ओर जा रहे हैं। चलो उन्हें पकड़े हुए जल्दी-जल्दी चलें। अभी वह पद-पंक्ति तिरछी हो पार वाली पहाड़ी के जंगल में पहुँची। हम तेजी से दौड़ते हुए बढ़ते जा रहे हैं, किन्तु ताजी पद-पंक्ति खतम होने को नहीं आ रही है। हम कभी श्वेत हिमक्षेत्र में चलते हैं, कभी जंगलों में ही पहाड़ी की रीढ़ को पार कर दूसरे हिमक्षेत्र,

दूसरे पार्वत्य वन को लाँघते हुए बढ़ते हैं। आखिर नीचे की ओर से एक वृक्षहीन पहाड़ी की रीढ़ पर हमारी नजर पड़ी। वहाँ नीचे से उठती श्वेत हिमराशि नील नभ से मिल रही है, और उस नील नभ में अपने को अंकित करती हुई कितनी ही मानव-मूर्तियाँ पर्वत-पृष्ठ की आड़ में लुप्त हो रही हैं। उनके पीछे नीला आकाश न होता तो निश्चय ही हम उन्हें न देख पाते। उनके शरीर पर हिम जैसा श्वेत वृष-चर्म है। उनके हाथों में हथियार भी सफेद रंग से रँगे मालूम होते हैं। फिर महान् श्वेत हिमक्षेत्र में उनकी हिलती-डुलती मूर्तियों को भी कैसे पहचाना जा सकता है ?

और पास चलकर देखें। सबसे आगे सुपुष्ट शरीर की एक स्त्री है। आयु चालीस और पचास के बीच होगी। उसकी खुली दाहिनी भुजा को देखने से ही पता लगता है कि वह बहुत बलिष्ठ स्त्री है। उसके केश, चेहरे, अंग-प्रत्यंग गुहा की पूर्वोक्त दोनों तरुणियों के समान, किन्तु बड़े आकार के हैं। उसके बायें हाथ में तीन हाथ लम्बी भुर्ज की मोटी नोकदार लकड़ी है। दाहिने में चमड़े की रस्सी से लकड़ी के बेंत में बँधा घिसकर तेज किया हुआ पाषाण-परशु है। उसके पीछे-पीछे चार मर्द और दो स्त्रियाँ चल रही है। एक मर्द की आयु स्त्री से कुछ अधिक होगी, शेष छब्बीस से चौदह वर्ष के हैं। बड़े मर्द के केश भी वैसे ही बड़े-बड़े तथा पांडु-श्वेत हैं। उसका मुँह उसी रंग की घनी दाढ़ी-मूँछ से ढँका हुआ है। उसका शरीर भी स्त्री की भाँति ही बलिष्ठ है; उसके हाथों में भी वैसे ही दो हथियार हैं। बाकी तीन मर्दों में दो उसी तरह की घनी दाढ़ी-मूछों वाले, किन्तु उम्र में कम हैं। स्त्रियों में एक बाईस, दूसरी सोलह से कम है। हम गुहा के चेहरों को देख चुके हैं और दादी को भी, सबको मिलाने से साफ मालूम होता है कि इन सभी स्त्री-पुरुषों का रूप दादी के साँचे में ढला हुआ है।

इन नर-नारियों के हाथ के लकड़ी, हड्डी और पत्थर के हथियारों और उनकी गम्भीर चेष्टा से पता लग रहा है कि वे किसी मुहिम पर जा रहे हैं।

पहाड़ी से नीचे उतर कर अगुवा स्त्री—माँ कहिए—बाईं ओर घूमी; सभी चुपचाप उसके पीछे चल रहे हैं। बर्फ पर चलते वक्त चमड़े से उनके ढँके पैरों से जरा भी शब्द नहीं निकल रहा है। अब आगे की ओर लटकी हुई

(प्राग् भार, पहाड़) बड़ी चट्टान है, जिसकी बगल में कई चट्टानें पड़ी हुई हैं। शिकारियों ने अपनी गति अत्यन्त मन्द कर दी है। वे तितर-बितर होकर बहुत सजग हो गये हैं। वे सारे पैरों को चीरकार बहुत देर करके एक पैर के पीछे दूसरे पैर को उठाते, चट्टानों को हाथ से स्पर्श करते आगे बढ़ रहे हैं। माँ सबसे पहले गुहा के द्वार-खुलाव-पर पहुँची। वह बाहर की सफेद बर्फ को ध्यान से देखती है, वहाँ किसी प्रकार का पद चिह्न नहीं है। फिर वह अकेले गुहा में घुसती है। कुछ ही हाथ बढ़ने पर गुहा घूम जाती है, वहाँ रोशनी कुछ कम है। थोड़ी देर ठहर कर वह अपनी आँखों को अभ्यस्त बनाती है, फिर आगे बढ़ती है। वहाँ देखती है तीन भूरे भालू-माँ, बाप, बच्चा-मुँह नीचे किए धरती पर सोये, या मरे पड़े हैं-उनमें जीवन का कोई चिह्न नहीं दीख पड़ता।

माँ धीरे से लौट आई। परिवार उसके खिले चेहरे को ही देखकर भाव समझ गया। माँ अँगूठे से कानी अँगुली को दबाकर तीन अँगुलियों को फैलाकर दिखाती है। माँ के बाद दो मर्द हथियारों को सँभाले आगे बढ़ते हैं, दूसरे साँस रोके वहीं खड़े प्रतीक्षा करते हैं। भीतर जाकर माँ भालू के पास जाकर खड़ी होती है। बड़ा पुरुष भालुनी के पास और दूसरा बच्चे के पास। फिर वे अपने नोकदार डंडे को एक साथ ऐसे जोर से मारते हैं, कि वह कोख में घुसकर कलेजे में पहुँच जाता है। कोई हिलता-डोलता नहीं। जाड़े की छः-मासी निद्रा के टूटने में अभी महीने से अधिक की देर है, किन्तु माँ और परिवार को इसका क्या पता ? उन्हें तो सतर्क रहकर ही काम करना होगा। डंडे की नोक को तीन-चार बार और पेट में घुसा वे भालू को उलट देते हैं, फिर निर्भय हो उनके अगले पैरों और मुँह को पकड़कर घसीटते हुए उन्हें बाहर लाते हैं। सभी खुश हो हँसते और जोर-जोर से बोलते हैं।

बड़े भालू को चित उलटकर माँ ने अपने चमड़े की चादर से एक चकमक पत्थर का चाकू निकाला, फिर घाव की जगह से मिलाकर पेट के चमड़े को चीर दिया-पत्थर के चाकू से इतनी सफाई के साथ चमड़े का चीरना अभ्यस्त और मजबूत हाथों का ही काम है। उसने नरम कलेजी का एक टुकड़ा काटकर अपने मुँह में डाला, दूसरा सबसे छोटे चौदह वर्ष के लड़के के मुँह में। बाकी सभी लोग भालू के गिर्द बैठ गये, माँ सबको

कलेजी का टुकड़ा काटकर देती जा रही थी। एक भालू के बाद जब माँ ने दूसरे भालू पर हाथ लगाया, उस वक्त षोडशी तरुणी बाहर गई। उसने बर्फ का एक डला मुँह में डाला, उसी वक्त बड़ा पुरुष भी बाहर आ गया। उसने भी एक डले को मुँह में डाल षोडशी के हाथ को पकड़ लिया। वह जरा झिझक कर शान्त हो गई। पुरुष उसे अपनी भुजा में बाँध एक ओर ले गया।

षोडशी और पुरुष हाथ में बर्फ का बड़ा डला लिये जब भालू के पास लौटे, तब दोनों के गालों और आँखों में ज्यादा लाली थी। पुरुष ने कहा-

"मै काटता हूँ, माँ ! तू थक गई है।"

माँ ने चाकू को पुरुष के हाथ में दे दिया। उसने झुककर चौबीस वर्ष के तरुण के मुँह को चूमा, फिर उसका हाथ पकड़कर बाहर चली गई।

उन्होंने तीन भालुओं की कलेजी को खाया। चार मास के निराहार सोये भालुओं में चर्बी कहाँ से रहेगी, हाँ बच्चे भालू का मांस कुछ अधिक नरम और सुस्वादु था, जिसमें से भी कितना ही उन्होंने खा डाला। फिर थोड़ी देर विश्राम करने के लिए सभी पास-पास लेट गये।

अब उन्हें घर लौटना था। नर-मादा भालुओं को दो-दो आदमियों ने चमड़े की रस्सी से चारों पैरों को बाँध डंडे के सहारे कन्धे पर उठाया और छोटे भालू को एक तरुणी ने। माँ अपना पाषाण-परशु सँभाले आगे-आगे चल रही थी।

उन जांगल मानवों को दिन के घड़ी-घंटे का पता तो था नहीं, किन्तु वे यह जानते थे कि आज चाँदनी रात रहेगी। थोड़ा ही चलने के बाद सूर्य क्षितिज के नीचे चला गया जान पड़ता था, किन्तु वह गहराई में नहीं गया, इसीलिए सन्ध्या-राग घण्टों बना रहा, और जब वह मिटा तब धरती, अम्बर सर्वत्र श्वेतिमा का राज हो गया।

अभी घर-गुहा दूर थी, जबकि खुली जगह में एक जगह माँ एकाएक खड़ी हो कान लगाकर कुछ सुनने लगी। सब लोग चुपचाप खड़े हो गये। षोडशी ने छब्बीसे तरुण के पास जाकर कहा-- "गुर्र, गुर्र, वृक, वृक (भेड़िया)"। माँ ने भी ऊपर-नीचे सिर हिलाते हुए कहा ..... "गुर्र,गुर्र, वृक। बहुत वृक, बहुत वृक।" फिर उत्तेजनापूर्ण स्वर में कहा-"तैयार।"

इस बीच में देखें और कितनों को देना होता है। तीन भालू और एक भेड़िया में तो उनका जाड़ा नहीं कट सकता।

बच्चे बड़े खुश थे, बेचारे खाली पेट लेटे हुए थे। माँ ने पहले उन्हें भेड़िये की कलेजी काट-काट कर दी। लड़के हप्-हप् कर खा रहे थे। चमड़े को बिना नुकसान पहुँचाए उतारा। चमड़े का बड़ा काम है। मांस काटकर जब दिया जाने लगा, बहुत भूखों ने तो कुछ कच्चा ही खाया, फिर सबने आग के अंगार पर भून-भून कर खाना शुरू किया। अपने भुने टुकड़ों में से एक गाल काटने के लिए माँ की सभी खुशमद कर रहे थे। माँ ने कहा—"बस, आज पेट भर खाओ, कल से इतना नहीं मिलेगा।"

माँ उठकर गुहा के एक कोने में गई, वहाँ से चमड़े की फूली हुई झिल्ली को लाकर कहा—"बस यही मधु-सुरा है, आज पियो, नाचो, क्रीड़ा करो।"

छोटों को झिल्ली से घूँट-घूँट करके पीने को मिला, बड़ो को ज्यादा-ज्यादा। नशा चढ़ आया। आँखें लाल हो आईं। फिर हँसी का ठहाका शुरू हुआ। किसी ने गाना गाया। बड़े पुरुष ने लकड़ी से लकड़ी बजानी शुरू की। लोग नाचने लगे। आज वस्तुतः आनन्द की रात थी। माँ का राज्य था, किन्तु वह अन्याय और असमानता का राज्य नहीं था। बूढ़ी दादी और बड़े पुरुष को छोड़ बाकी सभी माँ की सन्तानें थीं, और बूढ़ी ही बड़ा पुरुष तथा माँ बेटा-बेटी थे, इसलिए वहाँ मेरा-तेरा का प्रश्न नहीं हो सकता था। वस्तुतः मेरा-तेरा का युग आने में अभी देर थी। किन्तु हाँ, माँ को सभी पुरुषों पर समान और प्रथम अधिकार था। अपने चौबीसे पुत्र और पति के चले जाने से उसे अफसोस न हुआ हो, यह बात नहीं; किन्तु उस समय का जीवन अतीत से अधिक वर्तमान—विद्यमान की फिक्र करता था। माँ के दो पति मौजूद थे, तीसरा चौदह साला तैयार हो रहा था। उसके राज्य के रहते-रहते बच्चों में से भी न जाने कितने पति की अवस्था तक पहुँच सकते थे। माँ छब्बीसे को पसन्द करती थी, इसलिए बाकी तीन तरुणियों के लिए एक बह पचासा पुरुष ही बचा था।

जाड़ा बीतते-बीतते दादी एक दिन सदा के लिए सोई पड़ी मिली ! बच्चों में से तीन को भेड़िये ले गये और बड़ा पुरुष बर्फ पिघलने

पर उमड़ी नदी के प्रवाह में चला गया। इस प्रकार परिवार सोलह की जगह नौ का रह गया।

३

बसन्त के दिन थे। चिरमृत प्रकृति में नवजीवन का संचार हो रहा था। छः महीने से सूखे भुर्ज-वृक्षों पर ठूसे-पत्ते निकल रहे थे। बर्फ पिघली, धरती हरियाली से ढँकती जा रही थी। हवा में वनस्पति और नई मिट्टी की भींगी-भींगी मादक गन्ध फैल रही थी। जीवन-हीन दिगन्त सजीव हो रहा था। कहीं वृक्षों पर पक्षी नाना-भाँति के मधुर शब्द सुना रहे थे, कहीं झिल्ली अनवरत शोर मचा रही थी, कहीं हिम-द्रवित प्रवाहों के किनारे बैठे हजारों जल-पक्षी कृमि-भक्षण में लगे हुए थे, कहीं कलहंस प्रणय-क्रीड़ा कर रहे थे। अब इन हरे पार्वत्य वनों में कहीं झुंड के झुंड हिरन कूदते हुए चरते दिखलाई पड़ते थे, कहीं भेड़ें, कहीं बकरियाँ, कहीं बारहसिंगे, कही गायें। और कहीं इनकी घात में लगे हुए चीते दुबक कर बैठे हुए थे, और कहीं भेड़िये।

जाड़े के लिए अवरुद्ध नदी के प्रवाह की भाँति एक जगह रुक गए मानव-परिवार भी अब प्रवाहित होने लगे थे—अपने हथियारों, अपने चमड़ों तथा अपने बच्चों को लादे गृह-अग्नि को सँभाले अब वे खुली जगहों में जा रहे थे। दिन बीतने के साथ पशु-वनस्पतियों की भाँति उनके भी शुष्क चर्म के नीचे मांस और चर्बी के मोटे स्तर जमते जा रहे थे। कभी उनके लम्बे केश वाले बड़े-बड़े कुत्ते भेड़ या बकरी पकड़ते, कभी वे स्वयं जाल, बाण या लकड़ी के भाले से किसी जन्तु को मारते। नदियों में भी मछलियाँ थीं, और इस वोल्गा के ऊपरी भाग के निवासियों के जाल आज-कल कभी खाली बाहर नहीं आते थे।

रात में अब भी सर्दी थी, किन्तु दिन गर्म था, और निशा-परिवार (माँ का नाम निशा) आजकल कई दूसरे परिवारों के साथ वोल्गा के तट पर पड़ा हुआ था। निशा की भाँति ही दूसरे परिवारों पर भी उनकी माताओं का शासन था, पिता का नहीं। वस्तुतः वहाँ किसका पिता कैन है, यह बतलाना असम्भव था। निशा को आठ पुत्रियाँ और छः पुत्र पैदा हुए, जिसमें

चार लड़कियाँ और तीन पुत्र अब भी उसकी पचपन वर्ष की अवस्था में मौजूद हैं। इनके निशा-सन्तान होने में सन्देह नहीं, क्योंकि इसके लिए प्रसव का साक्ष्य मौजूद है; किन्तु उनका बाप कौन है, इसे बताना सम्भव नहीं है। निशा के पहले जब उसकी माँ–बूढ़ी दादी–का राज्य था, तब बूढ़ी दादी–उस वक्त प्रौढ़ा–के कितने ही भाई पति, कितने ही पुत्र पति थे, जिन्होंने कितनी ही बार निशा के साथ नाचकर, गाकर उसके प्रेम का पात्र बनने में सफलता पाई थी, फिर स्वयं रानी बन जाने पर निशा की निरन्तर बदलती प्रेमाकांक्षा को उसके भाई या सयाने पुत्र ठुकराने की हिम्मत नहीं रखते थे। इसीलिए निशा की जीवित सातों संतानों में किसका कौन बाप है, यह कहना असम्भव है। निशा के परिवार में आज वही सबसे बड़ी बूढ़ी–और प्रभुता-शालिनी भी है; यद्यपि यह प्रभुता देर तक रहने वाली नहीं है। वर्ष-दो वर्ष में वह स्वयं बूढ़ी दादी बनने वाली है, और तब सबसे बलिष्ठ निशा-पुत्री लेखा का राज्य होने वाला है। उस वक्त लेखा की बहनों का उससे झगड़ा जरूर होगा। जहाँ हर साल परिवार के कुछ आदमियों को भेड़िये या चीते के जबड़ों, भालू के पंजों, बैल के सींगों, वोल्गा की बाढ़ों की भेंट चढ़ना है, वहाँ परिवार को क्षीण होने से बचाना हर रानी माता का कर्त्तव्य है। तो भी ऐसा होता आया है, लेखा की बहनों में से एक या दो अवश्य स्वतन्त्र परिवार कायम करने में समर्थ होंगी। यह परिवार-वृद्धि तभी रुकती, यदि अनेक वीर्य के एक क्षेत्र होने की भाँति अनेक रज का भी एक वीर्य-क्षेत्र होता।

परिवार की स्वामिनी निशा अपनी पुत्री लेखा को शिकार में बहुत सफल देखती है। वह पहाड़ियों पर हरिनों की भाँति चढ़ जाती है। उस दिन एक चट्टान पर, बहुत ऊँचे ऐसी जगह एक बड़ा मधुछत्र दिखाई पड़ा, जहाँ रीछ (मध्वद) भी उसे खा नहीं सकता था। लेकिन, लेखा ने लट्ठे पर लट्ठे बाँधे, फिर छिपकली की भाँति सरकते रात को उसने मशाल से छत्ते को विषैली बड़ी-बड़ी मधु-मक्खियों को जलाकर उसमें छेद कर दिया। नीचे के चमड़े के कुप्पे में तीस सेर से कम मधु नहीं गिरा होगा। लेखा के इस साहस की तारीफ सारा निशा-परिवार ही नहीं, पड़ोसी-परिवार भी कर रहा था। किन्तु निशा उससे सन्तुष्ट नहीं थी। वह देख रही थी, तरुण निशा-पुत्र जितना लेखा के इशारे पर नाचने के लिए तैयार है, उतना

उसकी प्रार्थना को सुनना नहीं चाहते, यद्यपि वे अभी निशा की खुल्लम-खुल्ला अवज्ञा करने का साहस नहीं रखते।

निशा कितने ही दिनों से कोई रास्ता सोच रहीं थी। कभी उसे ख्याल होता लेखा को सोते में गला दबा कर मार दें, किन्तु वह यह भी जानती थी कि लेखा उससे अधिक बलिष्ठ है; वह अकेली उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। यदि वह दूसरे की सहायता लेना चाहे, तो क्यों कोई उसकी सहायता करेगा ? परिवार के सभी पुरुष लेखा के प्रणय-पात्र, कृपा-पात्र बनना चाहते थे। निशा की पुत्रियाँ भी माँ का हाथ बँटाने के लिए तैयार न थीं, वे लेखा से डरती थीं। वे जानती थीं कि असफल होने पर लेखा बुरी तरह से उनके प्राण लेगी।

निशा एकान्त में बैठी कुछ सोच रही थी। एकाएक उसका चेहरा खिल उठा–उसे लेखा का परास्त करने की कोई युक्ति सूझ पड़ी।

पहर भर दिन चढ़ आया था। सारे परिवार अपने-अपने चमड़े के तम्बुओं के पीछे नंगे लेटे या बैठे धूप ले रहे थे, किन्तु निशा तम्बू के सामने बैठी थी, उसके पास लेखा का तीन वर्ष का पुत्र खेल रहा था। निशा के हाथ में दोने में लाल-लाल स्ट्राबेरी के फल थे। वोल्गा की धारा पास से बह रही थी, और निशा के सामने सीधे खड़े अरार तक ढालू जमीन थी। निशा ने एक फल लुढ़काया, लड़का दौड़ा और उसे पकड़कर खा गया। फिर दूसरे को लुढ़काया; उसे थोड़ा और आगे जाने पर वह पकड़ सका। निशा ने जल्दी-जल्दी कितने ही फल लुढ़का दिये; बच्चे ने उन्हें पकड़ने के लिए इतनी जल्दी की कि एक बार उसका पैर अरार से फिसल गया और वह धम से वोल्गा की तेज धार में जा गिरा। निशा वोल्गा की ओर नजर दौड़ाए चीख उठी। कुछ दूर पर बैठी लेखा ने देखा। पुत्र को न देख वह धार की ओर झपटी। उसका पुत्र धार में अभी नीचे-ऊपर हो रहा था। उसने छलाँग मारी और पुत्र को पकड़ लेने में सफल हो गई। बहुत पानी पी जाने से बच्चा शिथिल हो गया था। वोल्गा का बर्फीला जल शरीर में काँटे की तरह चुभ रहा था। लेखा को धार काटकर किनारे की ओर बढ़ना मुश्किल था। उसके एक हाथ में बच्चा था, दूसरे हाथ और पैरों से वह तैरने की कोशिश कर रही थी। उसी वक्त अपने गले को उसने किसी के मजबूत हाथों में फँसा देखा। लेखा को अब समझने में देर न

लगी। वह देर से निशा की बदली हुई मनोवृत्ति को देख रही थी। आज निशा अपने राह के इस काँटे—लेखा—को निकालना चाहती है। लेखा अब भी निशा को अपना बल दिखला सकती थी; किन्तु उसके हाथ में बच्चा था। निशा ने लेखा को जोर लगाते देख अपनी छाती को उसके सिर पर रख दिया। लेखा एक बार डूब गई। छटपटाने में उसका बच्चा हाथ से छूट गया। अब भी निशा ने उसे बेकाबू कर रखा था। एकाएक उसका हाथ निशा के गले में पड़ गया। लेखा बेहोश थी और निशा उसके बोझ के साथ तैरने में असमर्थ। उसने कुछ कोशिश की, किन्तु बेकार ! दोनों एक साथ वोल्गा की भेंट हुई।

परिवार की बलिष्ठ स्त्री रोचना निशा-परिवार की स्वामिनी बनी।[1]

१. आज से ३६१ पीढ़ी पहले की कथा है। उस वक्त हिन्द, ईरान और यूरोप की सारी जातियाँ एक कबीले के रूप में थी। मानवता का आरम्भिक काल था।

दिवा । २

देश : वोल्गा-तट (मध्य)
जाति : हिन्दी-स्लाव
काल : ३५०० ई० पू०

१

"दिवा ! धूप तेज है, देख तेरे शरीर में पसीना। आ, यहाँ शिला पर बैठें।"

"अच्छा, सूरश्रवा -ा-ा-!" कह दिवा सूरश्रवा के साथ एक विशाल देवदारु की छाया में शिला-तल पर बैठ गई।

ग्रीष्म का समय; मध्याह्न की बेला, फिर मृग के पीछे दौड़ना, इस पर भी दिवा के ललाट पर श्रमबिन्दु अरुण मुक्ताफल की भाँति न झलकें, यह कैसे हो सकता था ? किन्तु यह स्थान ऐसा था, जहाँ उनके श्रम के दूर होने में देर नहीं लग सकती थी। पहाड़ी नीचे से ऊपर तक हरियाली से लदी हुई थी। विशाल देवदारु अपनी शाखाओं और सूची पत्रों को फैलाये सूर्य की किरणों को रोके थे। नीचे बीच-बीच में तरह-तरह की बूटियाँ, लताएँ और पौधे उगे हुए थे। जरा-सा बैठने के बाद ही तरुण-युगल अपनी थकावट को भूल गये; और आसपास उगे पौधों में रंग-बिरंगे फूल और उनकी मधुर गंध उनके मन का आकर्षण करने लगी। तरुण ने अपने धनुष-बाण और पाषाण-परशु को शिला पर रख दिया; और पास में कल-कल बहते स्फटिक स्वच्छ जलस्रोत के किनारे उगे पौधों से सफेद, बैंगनी, लाल फूलों को चुनना शुरू किया। तरुणी ने भी हथियारों को रख अपने लम्बे सुनहले केशों पर हाथ डाला, अभी भी उनकी जड़ें आर्द्र थीं। उसने एक बार नीचे प्रशान्त प्रवाहिता वोल्गा की धारा की ओर देखा, फिर पक्षियों के मधुर कलरव ने उनका ध्यान क्षण भर के लिए अपनी ओर आकर्षित किया, उसने झुककर फूल चुनते तरुण पर नजर डाली। तरुण

के भी वैसे ही सुनहले केश थे, किन्तु तरुणी अपने केशों से तुलना नहीं कर सकती थी; वह उसे अधिक सुन्दर जान पड़ते थे। तरुण का मुख घने पिंगलश्मश्रु से ढँका था, जिसके ऊपर उसका नासा, कपोल-भाग और ललाट की अरुणिमा दिखलाई पड़ती थी। तरुणी की दृष्टि फिर सूर की पुष्ट रोमश भुजाओं पर पड़ी। उस वक्त उसे याद आया कि कैसे सूर ने उस दिन एक बड़े दन्तैल सुअर की कमर को इन्हीं भुजाओं से पत्थर के फरसे द्वारा एक प्रहार में तोड़ दिया था। उस दिन यह कितनी कर्कश थीं और आज इन फूलों को चुनने में वह कितनी कोमल मालूम होती हैं। किन्तु उसकी मुसुक में उछलती मुसरियाँ, उसके पहुँचे में उभड़ी नसें बाहु को विषम बनाती अब भी उसके बल का परिचय दे रही थीं। एक बार तरुणी के मन में आया, उठकर उन बाँहों को चूम ले। हाँ, इस वक्त वह उसे इतनी प्यारी मालूम हो रही थीं। फिर दिवा की दृष्टि तरुण की जाँघों पर पड़ी। हर गति में उनकी पेशियाँ कितनी उछलती थीं। सचमुच चर्बीहीन पेशीपूर्ण उसकी जाँघें, पृथु पेंडली और क्षीण घुट्टी दिवा को अनोखी-सी मालूम होती थीं। सूर ने दिवा का प्यार पाने की कई बार इच्छा प्रकट की थी; मुँह से नहीं, चेष्टा से। नाचों में उसने कई बार अपने श्रम-कौशल को दिखलाकर दिवा को प्रसन्न करना चाहा था, लेकिन दिवा ने जहाँ जन के तरुणों को कितनी ही बार अपनी बाँहें नाचने को दीं, कई बार अपने ओंठ चूमने को दिये, कई बार उनके अंकों में शयन किया, वहाँ बेचारा सूर एक चुम्बन, एक आलिंगन क्या, एक बार हाथ मिलाकर नाचने से भी वंचित रहा!

सूर अँजली में फूल भर अब दिवा की ओर आ रहा था। उसका नग्न सर्वांग कितना पूर्ण था, उसका विशाल वक्ष, चर्बी नहीं पेशीपूर्ण कृश उदर कितना मनोहर था, इसका ख्याल आते ही दिवा को अफसोस होने लगा—उसने क्यों नहीं सूर का ख्याल किया। लेकिन, वस्तुतः इसमें दिवा का उतना दोष न था, दोष था सूर के मुँह पर लगे लज्जा के ताले का—जिसने दरवाजा खटखटाया उसके लिए वह खुला।

सूर के पास आने पर दिवा ने मुस्कराते हुए कहा—

"कितने सुन्दर, कितने सुगन्धित हैं ये फूल!"

सूर ने फूलों को शिलातल पर रखते हुए कहा—"जब मैं इन्हें तेरे सुनहरे केशों में गूँथ दूँगा, तो ये और सुन्दर लगेंगे।"

"तो सूर! तू मेरे लिए इन फूलों को ला रहा है?"

"हाँ, दिवा! मैंने इन फूलों को देखा, तुझे देखा, फिर याद आई जल की परियाँ।"

"जल की परियाँ?"

"हाँ, बहुत सुन्दर जल की परियाँ जो खुश होने पर सारी मनोवांछाओं को पूर्ण कर देती हैं और नाराज होने पर प्राण भी नहीं छोड़तीं।"

"तो सूर! तू मुझे कैसी जल-परी समझता है?"

"नाराज होने वाली नहीं।"

"किन्तु, मैं तुझ पर कभी खुश नहीं हुई।"

दिवा ठंडी साँस लेकर चुप हो गई। सूर ने फिर दुहराते हुए कहा—

"नहीं दिवा! तू मुझपर कभी नाराज नहीं हुई। याद है बचपन के दिन?"

"तब भी तू शर्मीला था।"

"किन्तु तू मुझपर नाराज न होती थी।"

"तब मैं तुझे अपने आप चूमती थी।"

"हाँ, वह चूमना बहुत मीठा था।"

किन्तु जब वे मेरे गोल-गोल स्तन उभड़ने लगे, तब मेरे मुख को सारे जन के तरुण जोहने लगे, तब मैंने तुझे भूला दिया।"—कह दिवा कुछ खिन्नमना हो गई।

"लेकिन दिवा! इसमें तेरा दोष नहीं है।"

"फिर किसका दोष?"

"मेरा, क्योंकि सारे जन के तरुण तुझसे चुम्बन माँगते, तू उन्हें चुम्बन देती; सारे जन के तरुण आलिंगन माँगते, तू आलिंगन देती। मृगया में चतुर, नृत्य में कुशल, शरीर में पुष्ट और सुन्दर किसी जन-तरुण की आशा को तूने भंग नहीं किया।"

"किन्तु सूर! तू भी वैसा ही, उनसे भी बढ़कर चतुर, कुशल, पुष्ट तरुण था, और मैंने तेरी आशा को भंग किया।"

"दिवा! किन्तु मैंने कभी आशा नहीं प्रकट की।"

"शब्द से नहीं। बचपन में हम जब साथ खेला करते, तब भी तू शब्द से आशा नहीं प्रकट करता था, किन्तु दिवा समझती थी, आज दिवा ने सूर

को भुला दिया, क्या यह दिवा (दिन) उस चमकते सूर (सूर्य) को कभी भुलाती है ? नहीं सूर ! अब दिवा तुझे नहीं भुलायेगी ।"

"तो मैं फिर वही सूर और तू वही दिवा बनेगी।"

"हाँ, और मैं तेरे ओठों को चूमूँगी।"

छोटे बच्चों की–सी इन नग्न सौन्दर्य–मूर्तियों ने अपने अतिरिक्त अधरों को मिला दिया, फिर दिवा ने अपने अलसी के फूल जैसे नीले नेत्रों को सूर के वैसे ही नीले नेत्रों में चुभोते हुए कहा–

"और तू मेरी अपनी माँ का बेटा, मैं तुझे भूल गई !"

दिवा की आँखें गीली थीं। सूर ने उन्हें अपने गालों से पोछते हुए कहा–

"नहीं, तूने नहीं भुलाया दिवा ! जब तू बड़ी हो गई, तेरी वाणी, आँखें और सारे अंग कुछ दूसरे जैसे मालूम होने लगे, तो मैं तुझसे दूर हटने लगा।"

"अपने मन से नहीं सूर !

"तो, दिवा !–"

"नहीं, कह तू मुझसे अब फिर नहीं शर्माएगा ?"

"नहीं शर्माऊँगा, अच्छा इन फूलों को गूँथने दे।"

सूर ने एक डंठल से रेशा निकाला, फिर उसमें लाल, सफेद, बैंगनी फूलों को गूँथना शुरू किया। उसके फूल के क्रम में सुरुचि थी। बालों को उसने सँभालकर पीठ पर फैला दिया। गर्मी के दिनों में वोल्गा–तीर के तरुण–तरुणियाँ अकसर नहाने–तैरने का आनन्द लेती हैं। इसलिए दिवा के केश साफ सुलझे हुए थे। सूर ने बालों पर तेहरी मेखला की भाँति स्रज को सजाया और फिर बीच में सफेद तथा किनारे पर बैंगनी फूलों के एक गुच्छे को ललाट के ऊपर केशों में खोंस दिया। दिवा शिलातल पर बैठी रही। सूर ने थोड़ा हटकर उसके चेहरे को देखा। उसे वह सुन्दर मालूम हुई। थोड़ा और दूर से देखा। वह और भी सुन्दर मालूम हुई, किन्तु वहाँ फूलों की सुगन्धि न मिलती थी। सूर ने पास में बैठकर अपने गालों को दिवा के गालों से मिला दिया। दिवा ने अपने साथी की आँखें चूम लीं, और दाहिने हाथ को उसके कन्धे पर रख दिया। सूर ने अपने बाएँ हाथ से दिवा की कटि को लपेटते हुए कहा–

"दिवा ! ये फूल पहले से अधिक सुन्दर हैं ?"

"फूल या मैं ?"

सूर को कोई उत्तर नहीं सूझा, उसने जरा रुककर कहा–

"मैंने हटकर देखा, तुझे ज्यादा सुन्दर पाया। और हटकर देखा, और सुन्दर पाया।"

"और यदि वोल्गा–तट से देखता ?"

"नहीं, उतनी दूर से नहीं–"

सूर की आँखों में चिन्ता की झलक उतर आई थी। "दूर से तेरी सुगन्धि जाती रहती है, और रूप भी दूर हो जाता है।"

"तू सूर ! तू मुझे दूर से देखना चाहता है या पास रहना चाहता है।"

"पास रहना, दिवा ! जैसे दिवा के पास चमकता सूर !"

"आज मेरे साथ नाचेगा सूर ?"

"जरूर !"

"आज मेरे साथ रहेगा ?"

"जरूर।"

"सारी रात ?"

"जरूर !"

"तो आज मैं जन के किसी तरुण के पास नहीं रहूँगी।" कह दिवा ने सूर का आलिंगन किया।

इसी बीच कितने ही शिकारी तरुण–तरुणियाँ आ गईं। उनकी आवाज को सुनकर भी वे दोनों वैसे ही रोम–रोम से आलिंगित खड़े रहे। उन्होंने पास आकर कहा–

"दिवा ! आज तूने सूर को अपना साथी चुना ?"

"हाँ ! और मुँह को उनकी ओर घुमाकर कहा–"देखो ये फूल सूर ने सजाये हैं।"

एक तरुणी–"सूर ! तू फूल अच्छे सजाता है। मेरे केशों को भी सजा दे।"

दिवा–"आज नहीं, आज सूर मेरा। कल।"

तरुणी–"कल सूर मेरा।"

दिवा–"कल ? कल भी सूर मेरा।"

तरुणी—"रोज-रोज सूर तेरा दिवा ! यह तो ठीक नहीं।"

दिवा ने अपनी गलती को समझकर कहा—"रोज-रोज नहीं स्वसर (बहन) ! आज और कल भर।"

धीरे-धीरे कितने ही और प्रौढ़ शिकारी आ गये। एक काला विशाल कुत्ता पास आ सूर के पैरों को चाटने लगा। सूर को अब अपनी भारी भेड़ याद आई। दिवा के कान में कुछ कह, वह दौड़ गया।

२

लकड़ी की दीवारों और फूस से छाया एक विशाल झोपड़ा था। पत्थर के फरसे तेज होते हैं, किन्तु उनसे इतनी लकड़ियों का काटना सम्भव नहीं था। उन्होंने लकड़ी के काटने में आग से भी मदद ली थी, किन्तु पाषाण-परशुओं ने काफी काम किया था, इसमें शक नहीं। और इतना बड़ा झोपड़ा ? हाँ, इसी में सारा निशा-जन—निशा नामक किसी पुराने काल की स्त्री की सन्तान रहता है। सारा जन एक छत के नीचे रहता, एक साथ शिकार करता, एक साथ फल या मधु जमा करता है। सारे जन की एक नायिका है, सारे जन का संचालन एक समिति करती है। संचालन—हाँ, इस संचालन से जन के व्यक्तियों के जीवन का कोई अंश छूटा नहीं है। शिकार, नाचना, प्रेम घर बनाना, चमड़े का परिधान तैयार करना सभी कामों का संचालन जन-समिति (कमेटी) करती है, जिसमें जन-माताओं का प्राधान्य है। निशा-जन के इस झोपड़े में १५० स्त्री-पुरुष रहते हैं। तो क्या यह सब एक परिवार हैं ? बहुत कुछ, और अनेक परिवार भी कह सकते हैं। क्योंकि माँ के जीते समय उसकी सन्तानों का एक छोटा परिवार-सा बन जाता है, ज्यादातर इस अर्थ में कि उसके सारे व्यक्ति उस माँ के नाम से पुकारे जाते हैं। उदाहरणार्थ, दिवा की माँ न रहे और वह कई बच्चों की माँ हो जाये, तो उन्हें दिवा-सूनु (दिवा-पुत्र) और दुहिता (दिवा-पुत्री) कहेंगे। इतना होने पर भी दिवा की सन्तान की अपनी सम्पत्ति (मांस, फल) नहीं होगी। सभी जन—स्त्री, पुरुष दोनों साथ सम्पत्ति अर्जित करता है, साथ उसे भोगता है, न मिलने पर साथ भूखे मरता है। व्यक्ति जन से अलग अपना कोई अधिकार नहीं रखते। जन की आज्ञा,

जन का रिवाज पालन करना उनके लिए उतना ही आसान मालूम पड़ता है, जितनी अपनी इच्छा।

और झोपड़ा ? यह अस्थायी झोपड़ा है। जब आस-पास के शिकार चले जायेंगे, आस-पास कन्द-मूल-फल न रहेंगे, तो सारा जन भी दूसरी जगह चला जायेगा। सदियों के तजुर्बे से उन्हें मालूम है, कि किसके बाद कहाँ शिकार पहुँचते हैं। यहाँ से चले जाने पर यह फूस गिर-पड़ जायेगा, किन्तु लकड़ी या पत्थर की दीवारें कई साल तक चली जायेंगी। नई जगह जा दीवारों को फूस से ढाँक वे नया दम (घर) बनायेंगे, उसमें एक स्थान सामान रखने का होगा, एक खाना पकाने का—जन हाथ से मिट्टी का बर्तन बनाता है, खोपड़ी को भी बर्तन के तौर पर इस्तेमाल करता है। माँस कभी कच्चा खाता है, कभी ताजे को भूनता है, सूखे को भूनना निषिद्ध समझता है। वोल्गा के इस भाग के जंगलों में मधु बहुत है, इसीलिए मध्वद (मधुभक्षी रीछ) भी यहाँ बहुत हैं। निशा-जन मधु को बहुत पसन्द करता है। मधु के तौर पर भी और सुरा के तौर पर भी।

और यह संगीत ? हाँ, स्त्री और पुरुष मधुर स्वर से गा रहे हैं। परिधाने के चमड़े को पीटने में तो नहीं लगे हुए हैं ? जन हर एक काम को सम्मिलित ही नहीं करता, बल्कि उसे मनोरंजक ढंग से करता है—गीत सम्मिलित काम का एक अंग है, संगीत में काम का श्रम भूल जाता है। किन्तु यह गीत काम वाला गीत नहीं मालूम होता। यहाँ एक बार स्त्रियों के कंठ से सरस कोमल राग निकल रहा है, एक बार पुरुषों के कंठ से गम्भीर कर्कश ध्वनि। चलें देखें।

झोपड़े में किन्तु विभक्त उसके एक भाग में जन के नर-नारी, बच्चे, बूढ़े, जवान इकट्ठा हुए हैं। बीच में छत कटी हुई है, जिनके नीचे देवदारु के काष्ठ की आग जल रही है। स्त्री-पुरुष बड़े राग से कुछ गा रहे हैं। उसमें जो शब्द सुनाई देते हैं, वह है—

"ओ-ो-ो-ग-ग-न्-ा-ा आ-ा-ा-या-ा"

क्या वह इसी अग्नि की प्रार्थना कर रहे हैं ? देखो, जन-नायिका तथा जन-समिति के लोग आग में माँस, चर्बी, फल और मधु डाल रहे हैं। अब के जन को शिकार खूब मिले, फल और मधु की भी बहुतायत रही, पशु तथा मानव शत्रुओं से जन-सन्तान को हानि नहीं पहुँची; इसीलिए आज

पूर्णिमा के दिन जन अग्निदेव के प्रति अपनी कृतज्ञता और पूजा अर्पित कर रहा है। अभी जन-नायिका ने मधु-सुरा का एक चषक (प्याला) आग में डाला, लोग खड़े हो गये। हाँ, सभी नंगे हैं, वैसे ही जैसे कि पैदा हुए थे। जाड़ा नहीं है, इस गर्मी में वह अपने चमड़े को किसी दूसरे चमड़े से ढाँकना साँसत समझते हैं। लेकिन कितने सुडौल हैं इनके शरीर ? क्या इनमें किसी का पेट निकला है ? क्या इनमें किसी के चमड़े को चर्बी ने फुला रखा है ?—नहीं। सौन्दर्य इसे कहते हैं, स्वास्थ्य इसका नाम है। इनके सबके चेहरे बिलकुल एक जैसे हैं। क्यों न होंगे, ये सभी निशा-जन सन्तान हैं, बाप-भाई-पुत्र से पैदा हुए हैं। सभी स्वस्थ और बलिष्ठ हैं। अस्वस्थ निर्बल व्यक्ति इस जीवन में, इस प्रकृति और पशु-जगत् की शत्रुता में जी नहीं सकता।

जन-नायिका उठकर बड़ी शाला में गई। लोग मिट्टी के लिए फर्श पर बैठ रहे हैं। मधु-सुरा के कुप्पे के कुप्पे आ रहे हैं और चषक (प्याले)—किसी के पास खोपड़ी के, किसी के पास हड्डी या सींग के, किसी के दारु-पत्ते के हैं। तरुण-तरुणियाँ, प्रौढ़-प्रौढ़ाएँ वृद्ध-वृद्धाएँ विभक्त से होकर पान-गोष्ठी में लगे हुए हैं। किन्तु, यह नियम नहीं। कितनी ही वृद्धाएँ समझती हैं कि उन्होंने अपने समय में जीवन का आनन्द पूरा ले लिया है, अब तरुणों की बारी है। कितनी ही तरूणियाँ किन्हीं वृद्धों को उनके सन्ध्या-काल में अमृत की एक घूँट अपने हाथ से पिलाना चाहती हैं। वह देखो दिवा को। उसके पास कितनी ही तरुण-तरुणियाँ बैठी हुई हैं; आज उसका हाथ ऋभु के कन्धे पर है, सूर दिवा के साथ बैठा है।

खान, पान, गान, नृत्य और फिर इसी बड़ी शाला में प्रेमी-प्रेमिकाओं का अंक शयन। सवेरे उठ कुछ स्त्री-पुरुष घर के काम करेंगे, कुछ शिकार करने जायेंगे और कुछ फल जमा करेंगे। और गुलाबी गालों वाले इनके छोटे-छोटे बच्चे ? कुछ माँ की गोद में, कुछ वृक्ष की छाया के नीचे चमड़ों पर कुछ सयाने बच्चों की पीठ या गोद में, और कितने ही वोल्गा की रेतीली दलदल-फाँद में रहेंगे।

वृद्ध-वृद्धाएँ अब निशा के राज्य की अपेक्षा ज्यादा सुखी और सन्तुष्ट हैं। जन एक जीवित माता का राज्य नहीं, बल्कि अनेक जीवित माताओं के

परिवारों का एक परिवार एक जन है, यहाँ एक माता का अकंटक राज्य नहीं, जन-समिति का शासन है, इसलिए यहाँ किसी निशा को अपनी लेखा को वोल्गा में डुबाने की जरूरत नहीं।

३

दिवा चार पुत्रों और पाँच पुत्रियों की माँ है; पैंतालिस वर्ष की आयु में वह निशा-जन की जन-नायिका बनाई गई है। पिछले पच्चीस सालों में निशा-जन की संख्या तिगुनी हो गई है। इसके लिए जब कभी सूर दिवा के ओंठों को चूमकर बधाई देता है, तो वह कहती है—"यह अग्नि की दया है, यह भगवान् का प्रताप है। जो अग्नि की शरण लेता है, जो भगवान् की शरण लेता है, उसके चारों ओर मधु की धारा, इस वोल्गा की धारा की भाँति बहती है। उसके दारुओं (वन) में नाना मृग आकर चरते हैं।"

निशा-जन के लिए बहुत मुश्किल है। निशा-जन स्थान बदलते जहाँ जाता, वहाँ पहले के इतने जंगल से उसका काम नहीं चलता। उसे जनदम (जनगृह) ही तिगुना नहीं बनाना पड़ता, बल्कि तिगुने मृगया-क्षेत्रों को भी लेना पड़ता। आज जिस मृगया-क्षेत्रों में उसने डेरा डाला है, उसके उत्तर उषा-जन का मृगया-क्षेत्र है। दोनों मृगया-क्षेत्र के बीच कुछ अस्वामिक वन है। निशा-जन अस्वामिक वन को ही नहीं, उषा-जन के क्षेत्र में भी शिकार करने कई बार गया। जन-समिति ने उषा-जन से झगड़ा होने की सम्भावना को देखा, किन्तु उसे कोई उपाय नहीं सूझा। दिवा ने जन-समिति में एक दिन कहा था—"भगवान् ने इतने मुँह दिये, उन्हीं के आहार के लिए ये वन हैं। इन वनों को छोड़ इन मुखों को आहार नहीं दिया जा सकता; इसलिए निशा-जन जंगल के रीछों, गायों, घोड़ों को नहीं छोड़ सकता; वैसे ही जैसे इस वोल्गा की मछलियों को।"

उषा-जन ने निशा-जन को सरासर अन्याय करते देखा। उसकी जन-समिति ने कई बार निशा-जन-समिति से बातचीत की। समझाया, बतलाया—"सनातन काल से हमारे दोनों जनों में कभी युद्ध नहीं हुआ, हम हर शरद् में यहीं आकर रहते रहे।" किन्तु भूखे मरकर न्याय करने के लिए निशा-जन कैसे तैयार होता ? सब कानून जब विफल हो जाते हैं,

तो जंगल के कानून की शरण लेनी ही पड़ती है। दोनों जन भीतर-भीतर इसके लिए तैयारी करने लगे। एक का पता दूसरे को मिल नहीं सकता था, क्योंकि प्रत्येक जन ब्याह-शादी, जीना-मरना सब कुछ अपने जन के भीतर करता था।

निशा-जन का एक गिरोह दूसरे मृगया-क्षेत्र में शिकार करने गया, उषा-जन के लोग छिपकर बैठे हुए थे। उन्होंने आक्रमण कर दिया। निशा-जन के लोग भी डटकर लड़े, किन्तु वह तैयार होकर काफी संख्या में नहीं आये थे। कितने ही अपने मरों को छोड़, कितने ही घायलों को लिए वहाँ भाग आये। जन-नायिका ने सुना, जन-समिति ने इस पर विचार किया, फिर जन-संसद—सारे जन के स्त्री-पुरुषों—की बैठक हुई। सारी बात उनके सामने रखी गई। मरों का नाम बतलाया गया। घायलों को सामने करके दिखलाया गया। भाइयों-बेटों, माँओं-बहनों-बेटियों ने खून का बदला लेने के लिए सारे जन को उत्तेजित किया। खून का बदला न लेना जन-धर्म के अत्यन्त विरुद्ध काम है, और वह जन-धर्म-विरोधी कोई काम नहीं कर सकता। जन ने तय किया कि मरों के खून का बदला लेना चाहिए।

नाच के बाजे युद्ध के बाजों में बदल गये। बच्चों-वृद्धों की रक्षा के लिए कुछ नर-नारियों को छोड़ सभी चल पड़े। उनके हाथों में धनुष, पाषाण-परशु, काष्ठ-शल्य, काष्ठ-मुद्गर थे। उन्होंने अपने शरीर में सबसे मोटे चमड़े के कंचुक पहने थे। आगे-आगे बाजा बजता जाता था, पीछे हथियार-बन्द नर-नारी। जन-नायिका दिवा आगे-आगे थी। दूर तक सुनाई पड़ती बाजे की आवाज, और लोगों के कोलाहल से सारी अरण्यानी मुखरित हो रही थी। पशु-पक्षी भयभीत हो यत्र-तत्र भाग रहे थे।

अपने क्षेत्र को छोड़ वह अस्वामिक क्षेत्र में दाखिल हुए—सीमा चिह्न न होने पर भी हर एक जन-शिकारी अपनी सीमा को जानता है और वह उसके लिए झूठ नहीं बोल सकता। झूठ अभी मानव के लिए अपरिचित और अत्यन्त कठिन विद्या थी। शिकारियों ने अपने जन के पास सूचना पहुँचाई, वह जन-पुर (जन के झोपड़े) से हथियार-बन्द हो निकले। उषा-जन वस्तुतः न्याय चाहता था, वह सिर्फ अपने मृगया-क्षेत्र की रक्षा

करना चाहता था, किन्तु उसके अमित्र इस न्याय के लिए तैयार न थे। उषा-जन के मृगया-क्षेत्र में दोनों जनों का युद्ध हुआ। चकमक पत्थर के तीक्ष्ण फल वाले बाण सन्-सन् बरस रहे थे; पाषाण-परशु खप्-खप् एक-दूसरे पर चल रहे थे। वे भालों और मुद्गरों से एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। हथियार टूट या छूट जाने पर भट और भटानियाँ हाथों, दाँतों और नीचे पत्थरों से लड़ रहे थे।

निशा-जन की संख्या उषा-जन की संख्या से दूनी थी, इसीलिए उस पर विजय पाना उषा-जन के लिए असम्भव था। किन्तु, लड़ना जरूरी था, और तब तक जब तक कि एक बच्चा भी न रह जाये। लड़ाई पहर भर दिन चढ़े शुरू हुई थी। जंगल में उषा-जन के दो-तिहाई लोग मारे जा चुके थे—हाँ, घायल नहीं मारे, जनों के युद्ध में घायल शत्रु को छेड़ना भारी अधर्म है। बाकी एक-तिहाई ने वोल्गा के तट पर लड़ते हुए प्राण दिया। वृद्धों और बच्चों सहित माताओं ने दम (घर) छोड़ भागना चाहा, किन्तु समय बीच चुका था। निशा-जन के बर्बर नर-नारियों ने उन्हें खदेड़-खदेड़कर पकड़ा, दुधमुँहे बच्चों को पत्थरों पर पटका, बूढ़ों और बूढ़ियों के गले में पत्थर बाँधकर वोल्गा में डुबाया। दम के भीतर रखे मांस, फल, मधु, सुरा तथा दूसरे सामान को बाहर निकाल बाकी बचे बच्चों और स्त्रियों को झोपड़े के भीतर बंद कर आग लगा दी। पोरिसों उछलती ज्वाला के भीतर उठते प्राणियों के क्रन्दन का आनन्द लेते, निशा-जन ने अग्निदेव को धन्यवाद दिया, फिर शत्रु-संचित मांस और सुरा से अपने देवों तथा अपने को तृप्त किया।

जन-नायिका दिवा बहुत खुश थी। उसने तीन माताओं की छाती से छीनकर उनके बच्चों को पत्थर पर पटका था, जब उनकी खोपड़ी के फटने का शब्द होता, तो वह किलकिलाकर हँसती। खान-पान के बाद उसी आग के प्रकाश में नृत्य शुरू हुआ। दिवा अपने तरुण पुत्र वसु के साथ आज नाच रही थी। दोनो नग्न मूतियाँ नृत्य के ताल में ही कभी एक-दूसरे को चूमतीं, कभी आलिंगन करती, कभी चक्कर काटकर भिन्न-भिन्न नाट्य-मुद्राएँ दिखलातीं। सब जन जानता था कि आज उनकी जन-नायिका का प्रेम-पात्र वसु बना है, वसु विजयोन्माद-मत्त माता के प्रेम को ठुकराना नहीं चाहता था।

निशा-जन का मृगया-क्षेत्र अब चौगुने से अधिक हो गया था, शरद के निवास के लिए उसे बिलकुल चिन्ता न रह गई थी। चिन्ता उसे सिर्फ एक बात की थी। उषा-जन के मारे गये लोगों ने जो बात जीवित रहते न कर पाई, उसे अब वे मरने के बाद प्रेत हो करना चाहते थे। उस जले दम की जगह प्रेत-पुर बस गया था, जिससे अकेल-दुकेले गुजरना किसी निशा-जन वाले के लिए असम्भव था। कितनी ही बार शिकारियों ने दूर तक फैली आग के सामने सैकड़ो नंगी मूर्तियों को नाचते देखा था। स्थान-परिवर्तन के समय जन को उधर से ही जाना पड़ता था, किन्तु उस वक्त वह भारी संख्या में होता और दिन के उजाले में जाता था। दिवाने तो कई बार अँधेरे में दुधमुँहे बच्चों को जमीन से उछल कर अपने हाथों में लिपटते देखा, उस वक्त वह चिल्ला उठती।

४

दिवा अब सत्तर से ऊपर की है। अब वह निशा-जन की नायिका नहीं है, किन्तु अब भी वह उसकी एक सम्माननीय वृद्धा है; क्योंकि २० वर्ष तक जन-नायिका रह उसने अपने बढ़ते हुए जन की समृद्धि के लिए बहुत काम किया था। इन वर्षों में जन को कई बाहरी जनों से लड़ना पड़ा, जिसमें उसे भारी जन-हानि उठानी पड़ी, तो भी निशा-जन सदा विजयी रहा। अब उसके पास कई मासों के लिए पर्याप्त मृगया-क्षेत्र हैं। दिवा के लिए यह सब भग (वान्) की कृपा से था, यद्यपि हाथ के पटके वे बच्चे अब भी कभी-कभी उसकी नींद को उचाट देते !

जाड़ों का दिन था। वोल्गा की धारा जम गई थी और महीनों के बरसते हिम के कारण वह दूसरे रजत बालुका या घने कपास की राशि-सी मालूम होती थी। दूसरी ओर जंगल में शिशिर की निर्जीवता और स्तब्धता छाई थी। निशा-जन की संख्या अब और भी ज्यादा थी, इसलिए उसके आहार की मात्रा भी अधिक होनी जरूरी थी, किन्तु साथ ही उसके पास काम करने वाले हाथ भी अधिक थे और काम के दिनों में वह अधिक मात्रा में आहार संचय करते। जाड़ों में भी सधे कुत्तों के लिए निशा-पुत्र और पुत्रियाँ शिकार में कुछ-न-कुछ प्राप्त कर लेतीं। इधर उन्होंने शिकार

का एक और नया ढंग निकाला था—चारे के अभाव से हरिन, गाय, घोड़े आदि शिकार के जानवर एक जंगल से दूसरे जंगल को चले जाते थे। निशा-जन ने जमीन में गिरे दानों को जमते देखा था, इसलिए उन्होंने घास के दानों को आर्द्र भूमि में छींटना शुरू किया। इन उगाई घासों के कारण जानवर कुछ दिन और अटकने लगे।

उस दिन ऋक्षश्रवा के कुत्ते ने खरगोश का पीछा किया। ऋक्षश्रवा भी उसके पीछे दौड़ा। पसीना छूटने पर उसने अपने बड़े चर्म-कंचुक को उतार कन्धे पर रख फिर दौड़ना शुरू किया; किन्तु कुत्ता अभी भी नहीं दिखाई पड़ता था, बरफ में उसके पैरों के निशान जरूर दिखलाई पड़ रहे थे। ऋक्ष हाँफने लगा और विश्राम करने के लिए एक गिरे हुए वृक्ष के स्कन्ध पर बैठ गया। अभी वह पूरी तरह विश्राम नहीं कर पाया था कि उसे दूर अपने कुत्ते की आवाज सुनाई दी। वह उठकर फिर दौड़ने लगा। आवाज नजदीक आती गई। पास जाकर देखा, देवदारु के सहारे एक सुन्दरी खड़ी है। उसके शरीर पर श्वेत चर्म-कंचुक हैं। सफेद टोपी के नीचे से जहाँ-तहाँ उसके सुनहले केश निकल कर दिखलाई दे रहे हैं। उसके पैरों के पास एंक मरा हुआ खरगोश पड़ा है। ऋक्ष को देखकर कुत्ता नजदीक जा और जोर-जोर से भूँकने लगा। ऋक्ष की दृष्टि सुन्दरी के चेहरे पर पड़ी, उसने मुस्कराकर कहा—"मित्र ! यह तेरा कुत्ता है ?"

"हाँ, मेरा है, किन्तु मैंने तुझे कभी नहीं देखा।"

"मैं कुरु-जन की हूँ। यह कुरु-जन की भूमि है।"

"कुरु-जन की !" कह ऋक्ष सोच में पड़ गया। कुरु यहाँ उसका पड़ोसी-जन है। कितने ही वर्षों से दोनों जनों में अनबन चल रही है। कभी-कभी युद्ध भी हो जाता है। किन्तु कुरु उषा-जन से अधिक चतुर है, इसलिए युद्ध में सफलता की आशा न देख वह अकसर अपने पैरों से भी काम लेता है। इस तरह जहाँ हाथ सफलता नहीं प्रदान करते, वहाँ पैर जीवित रहने में सफल बनाते हैं। निशा-पुत्र बराबर कुरु-संहार का निश्चय करते, किन्तु अभी तक वह अपने निश्चय को कार्य रूप में परिणत नहीं कर सके थे।

ऋक्ष को चुप देख तरुणी ने कहा—"इस खरगोश को तेरे कुत्ते ने मारा है, इसे तू ले जा।"

"लेकिन, यह कुरुओं के मृगया-क्षेत्र में मरा है।"

"हाँ, मरा है, किन्तु मैं कुत्ते के मालिक की प्रतीक्षा में थी।"

"प्रतीक्षा में ?"

"हाँ कि उसके आने पर इस खरगोश को दे दूँ।"

कुरु का नाम सुनकर ऋक्ष के मन में कुछ द्वेष-सा उठ आया था, किन्तु सुन्दरी के स्नेहपूर्ण शब्दों को सुनकर वह दूर होने लगा। उसने प्रत्युपकार के भाव से प्रेरित होकर कहा—

"शिकार ही नहीं, तूने मेरे श्वक (कुत्ते) को भी मुझे दिया। यह कुत्ता मुझे बहुत प्रिय है।"

"सुन्दर श्वक है।"

"सारे जन के बीच क्यों न हो, मेरी आवाज सुनते ही मेरे पास चला आता है।"

"इसका नाम ?"

"शम्भू।"

"और तेरा मित्र !"

"ऋक्षश्रवा रोचना-सूनु।"

"रोचना-सूनु ! मेरी माँ का नाम भी रोचना था। ऋक्ष जल्दी न हो तो थोड़ा बैठ।"

ऋक्ष ने धनुष और कंचुक बरफ पर रखकर सुन्दरी के पैरों के पास बैठते हुए कहा—

"तो अब तेरी माँ नहीं है ?"

"नहीं, वह निशा-जन के युद्ध में मारी गई। वह मुझे बहुत प्यार करती थी।"—कहते-कहते तरुणी की आँखों में आँसू भर आये।

ऋक्ष ने अपने हाथ से उसके आँसुओं को पोंछते हुए कहा—

"यह युद्ध कितना बुरा है !"

"हाँ, जिसमें इतने प्रियों का बिछोह होता है।"

"और अब भी वह बन्द नहीं हुआ।"

"बिना एक के उच्छेद हुए वह कैसे बन्द होगा ? मैं सुनती हूँ, निशा-पुत्र फिर आक्रमण करने वाले हैं। मैं सोचती हूँ ऋक्ष ! तेरे जैसे ही तरुण तो वह भी होंगे।"

"और तेरी जैसी ही तरुणियाँ कुरुओं में भी होंगी।"

"फिर भी हमें एक दूसरे को मारना होगा, ऋक्ष ! यह कैसा है !"

ऋक्ष को ख्याल आया, तीन दिन बाद उसका जन कुरुओं पर आक्रमण करने वाला है। ऋक्ष के कुछ बोलने से पहले ही तरुणी ने कहा—

"लेकिन हम अब नहीं लड़ेंगे।"

"नहीं ! कुरु नहीं लड़ेंगे।"

"हाँ, हमारी संख्या इतनी कम रह गई है, कि हमें जीतने की आशा नहीं।"

"फिर कुरु क्या करेंगे ?"

"वोल्गा-तट को छोड़ दूर चले जायेंगे। वोल्गा माता की धारा कितनी प्रिय है ? अब फिर यह देखने को नहीं मिलेगी, इसीलिए मैं घन्टों यहाँ बैठी इसकी सुप्त धारा को देखा करती हूँ।"

"तो तू वोल्गा को फिर न देख सकेगी।"

"न तैर सकूँगी। इस गम्भीर उद (जल) में तैरने में कितना आनन्द आता था !"—सुन्दरी के कपोलों पर अश्रुबिन्दु ढलक रहे थे।

"कितना क्रूर, कितना निष्ठुर !"—उदास हो ऋक्ष ने कहा।

"किन्तु यह जन-धर्म है, रोचना-सूनु।"

"और बर्बर-धर्म है।"[1]

---

[1] आज से सवा दो सौ पीढ़ी पहले के एक आर्य-जन की यह कहानी है। उस वक्त भारत, ईरान और रूस की श्वेत जातियों की एक जाति थी, जिसे—हिन्दी स्लाव या शतं-वंश कहते हैं।

३ । अमृताश्व

देश : मध्य–एशिया; पामीर (उत्तर–कुरु)
जाति : हिन्दी-ईरानी
काल : ३००० ई० पू०

१

फर्गाना के हरे-हरे पहाड़, जगह-जगह बहती सरिताएँ तथा चश्मे, कितने सुन्दर हैं, इसे वही जान सकते हैं, जिन्होंने काश्मीर की सुषमा देखी है। हेमन्त बीत कर बसन्त आ गया है और बसन्त-श्री उस पार्वत्य उपत्यका को भू-स्वर्ग बना रही है। पशु-पाल अपने हेमन्त-निवासों, गिरि-गुहाओं या पाषाण-गृहों से निकलकर विस्तृत गोचर-भूमि में चले आये हैं। उनके घोड़े के बाल के तम्बुओं से–जिनमें अधिकतर लाल रंग के हैं– धुआँ निकल रहा है। अभी एक तम्बू से एक तरुणी मशक को कन्धे से लटकाये नीचे पत्थरों पर अट्टहास करती सरिता के तट की ओर चली। अभी वह तम्बुओं से बहुत दूर नहीं गई थी, कि एक पुरुष सामने आकर खड़ा हुआ। तरुणी की भाँति उसके शरीर पर भी एक पतले सफेद ऊनी कम्बल के दो छोर दाहिने कन्धे पर इस तरह बँधे हुए हैं, कि दाहिना हाथ, मोढ़ा और वक्षार्द्ध तथा घुटनों के नीचे का भाग छोड़, सारा शरीर ढँका हुआ है। पुरुष के पिंगल केश, श्मश्रु सुन्दर रूप से सँवारे हुए हैं। सुन्दरी पुरुष को देख ठहर गई। पुरुष ने मुस्कराते हुए कहा–"सोमा ! आज देर से पानी के लिए जा रही है ?"

"हाँ, ऋज्राश्व ! किन्तु तू किधर भूल पड़ा ?"

"भूला नहीं सखी ! मैं तेरे ही पास चला आया।"

"मेरे पास ! बहुत दिनों बाद।"

"आज सोमा याद आ गई !"

"बहुत अच्छा, मुझे पानी भरकर घर में पहुँचाना है। अमृताश्व खाने बैठा है।"

बात करते हुए दोनों नदी तक जा, घर लौटे। ऋज्राश्व ने कहा–

"अमृताश्व बड़ा हो गया।"

"हाँ, तूने तो कई वर्षों से नहीं देखा ?"

"चार वर्ष से ?"

"इस वक्त यह बारह वर्ष का है। सच कहती हूँ ऋज्राश्व ! रूप में वह तेरे समान है।"

"कौन जाने, उस वक्त मैं भी तो तेरा कृपा-पात्र था। अमृताश्व इतने दिनों कहाँ रहा ?"

"नाना के यहाँ, वाह्लीकों में।"

सुन्दरी ने जलपूर्ण मशक तम्बू में रखी और अपने पति कृच्छ्राश्व को ऋज्राश्व के आने की खबर दी। दोनों और उनके पीछे अमृताश्व भी तम्बू से बाहर निकले। ऋज्राश्व ने सम्मान प्रदर्शित करते हुए कहा–"कह, मित्र कृच्छ्राश्व ! तू कैसे रहा ?"

"अग्निदेव की कृपा है, ऋज्राश्व ! आ जा फिर, अभी-अभी सोम (भाँग) को घोटकर मधु और अश्विनी-क्षीर के साथ तैयार किया है।"

"मधु-सोम। किन्तु इतने सबेरे कैसे ?"

"मैं घोड़ों के रेवड़ में जा रहा हूँ। बाहर देखा नहीं, घोड़ा तैयार है ?"

"तो आज शाम को लौटना नहीं चाहता !"

"शायद। इसीलिए तैयार है यह सोम की मशक और मधुर अश्व मांस।"

"अश्व-माँस !"

"हाँ, हमारे पशुओं पर अग्निदेव की कृपा है। मैं तो अश्वों को ही अधिक पालता हूँ।"

"हाँ, कृच्छ्राश्व ! तेरा नाम उल्टा है।"

"माँ-बाप के समय हमारे घर में अश्वों की कृच्छ्रता थी, इसीलिए यह नाम रख दिया।"

"लेकिन अब तो ऋद्धाश्व होना चाहिए।"

"अच्छा, चलो भीतर।"

"किन्तु, मित्र ! इसी देव-द्रुम की छाया में हरी घास पर क्यों न ?"

"ठीक, सोमा ! तू ला, सोम और माँस से यहीं मित्र को तृप्त करें।"

"किन्तु कृच्छ्र ! तू अश्वों में जा रहा था।"

"चला जाऊँगा, आज नहीं कल। बैठ ऋज्राश्व !"

सोमा सोम की मशक और चषक (प्याले) लिये आई। दोनों मित्रों के बीच अमृताश्व भी बैठ गया। सोमा ने सोम (भाँग के रस) और चषक को धरती पर रखते हुए कहा—"बिस्तर ला दूँ, जरा ठहरो।"

"नहीं सोमे ! यह कोमल हरी घास बिस्तर से अच्छी है"—ऋज्राश्व ने कहा।

"अच्छा, यह बतला ऋज्र ! लवण के साथ उबाला माँस खायेगा, या आग में भूना ? बछेड़ा आठ महीने का था, मांस बहुत कोमल है।"

"मुझे तो सोमे ! भूना बछेड़ा पसन्द आता है। मैं तो कभी-कभी सम्पूर्ण बछेड़े को आग पर भूनता हूँ। देर लगती है, किन्तु माँस बहुत मधुर होता है। और तुझे भी सोमे ! मेरे चषक को अपने ओठों से मीठा करना होगा।"

"हाँ, हाँ सोमे ! ऋज बहुत समय बाद आया है।"— कृच्छ्राश्व ने कहा।

"मैं जल्दी आती हूँ, आग बहुत है, माँस भूनते देर न लगेगी।"

कृच्छ्राश्व को चषक पर उँड़ेलते देख ऋज्राश्व ने कहा "क्या जल्दी है ?"

"सोम मधुरतम है। सोमा का हाथ और सोम ! सोम अमृत है। यह सोमपायी को अमृत बनाता है। पी सोम और अमृत बन जा।"

"तू अमृत क्या बनेगा ? जिस तरह चषक पर चषक उँडेले जा रहा है, उससे तो अ-चिर में मृत-सा बन जायेगा।"

"किन्तु तू जानता है ऋज्र ! मैं सोम से कितना प्रेम रखता हूँ ?"

इसी वक्त भुने माँस के तीन टुकड़ों को चमड़े पर लिये सोमा आकर बोली—"किन्तु कृच्छ्र ! तू सोमा से प्रेम नहीं रखता ?"

"सोमा से भी और सोम से भी।" कृच्छ्र ने परिवर्तित स्वर में कहा। उसकी आँखें लाल हो रही थीं, "और सोमा, आज तुझे क्या परवाह ?"

"हाँ, आज तो मैं अतिथि ऋज्र की हूँ।"

"अतिथि या पुराने मित्र की ?" —हँसने की कोशिश करते हुए कृच्छ्र ने कहा।

ऋज्राश्व ने हाथ पकड़कर सोमा को अपनी बगल में बैठा लिया, और सोम-पूर्ण चषक को उसके मुँह में लगा दिया। सोमा ने दो घूँट पीकर कहा—"अब तू पी ऋज्र ! बहुत समय बाद यह दिन आया है।"

ऋज्राश्व ने सारे चषक को एक साँस में साफ कर नीचे रखते हुए कहा—"तेरे ओठों के लगते ही सोमे ! यह सोम कितना मीठा हो जाता है।"

कृच्छ्राश्व पर सोम का असर होने लगा था। उसने झटपट अपने चषक को भरकर सोमा की ओर बढ़ाते हुए लड़खड़ाती जबान से कहा—"तो-ो-ो-सो-ो-ो-ं ! इस—स्-से-भी-ी-म्-क-ध्-धु-र-व्-ब-ना-ा दे।"

सोमा ने उसे ओठों से छू; लौटा दिया। अमृताश्व को बड़ों के प्रेमालाप में कम रस आता था, इसलिए वह समवयस्क बालक-बालिकाओं के साथ खेलने के लिए निकल भागा। कृच्छ्राश्व ने झपी जाती पपनियों और गिरे जाते शिर के साथ कहा—"सो-ो-मं- ! ग्-गा-ना-ा-ग्-गा-ऊँ ?"

"हाँ, तेरे जैसे गायक क्या कुरु में कहीं है ?"

"ठ्-ठी-ी-कम्-मे-रे-ज-जै-सा-ा-ग्-गा-य-क-न-हीं-ीं-तू-तो सु-सु-न-"

"प्पि-व्-वे- -म्-मसो-ो-मं-"

"रहने दे कृच्छ्र ! देख तेरे संगीत से सारे पशु-पक्षी जंगल छोड़ भाग रहे हैं।"

"ह्, हु-म्-म !"

इस समय सोम पी अमृत बनने का नहीं था। आम तौर से उसका समय सूर्यास्त के बाद होता है, किन्तु कृच्छ्राश्व को तो कोई बहाना मिलना चाहिए। उसके होश-हवाश छोड़ चित्त पड़ जाने पर, सोमा और ऋज्राश्व ने प्याले रख दिये और दोनों नदी के किनारे एक चट्टान पर जा बैठे। पहाड़ के बीच यहाँ धार कुछ समतल भूमि में बह रही थी, किन्तु उसमें बड़े-छोटे पत्थरों के ढोंके भरे हुए थे, जिन पर जल टकराकर शब्द कर रहा था। पत्थरों की आड़ में जहाँ-तहाँ मछलियाँ अपने पंखों को हिलातीं चलती-फिरती दिखलाई पड़ती थीं। तट के पास की सूखी भूमि पर विशाल साल, देवदारु आदि के वृक्ष थे। पक्षियों के सुहावने गीतों के साथ फूलों से सुगंधित मन्द पवन में श्वाँस तथा

स्पर्श लेना बड़े आनन्द की चीज थी। बहुत वर्षों बाद दोनों इस स्वर्गीय भू-भाग में अपने पुराने प्रेम की आवृत्ति कर रहे थे। इस वक्त फिर उन्हें वह दिन याद आ रहे थे, जबकि सोमा षोडशी पिंगला (पिंगल-केशी) थी, जब वसन्तोत्सव के समय ऋज्राश्व भी वाह्लीकों में अपने मामा के घर गया था। सोमा उसके मामा की लड़की थी। ऋज्राश्व भी उसके प्रेमियों में था। उस वक्त सोमा के चाहने वालों में होड़ लगी थी, किन्तु जयमाला कृच्छ्राश्व को मिली। दूसरों के साथ ऋज्राश्व को भी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। अब सोमा कृच्छ्राश्व की पत्नी है, किन्तु उस जिन्दादिल युग में स्त्री ने अभी अपने को पुरुष की जंगम सम्पत्ति होना नहीं स्वीकार किया था, इसलिए उसे अस्थायी प्रेमी बनाने का अधिकार था। अतिथियों और मित्रों के पास स्वागत के रूप में अपनी स्त्री को भेजना, उस वक्त का सर्वमान्य सदाचार था। आज वस्तुतः सोमा ऋज्राश्व की रही।

शाम को ग्राम के नर-नारी महापितर (कबीले के मुखिया या शासक) के विस्तृत आँगन में जमा हुए। सोम, मधुसुरा और स्वादिष्ट गो-अश्व-माँस लाया जा रहा था। महापितर पुत्रोत्पत्ति का महोत्सव मना रहे थे। कृच्छ्र ने अपने को हिलने-डोलने लायक नहीं रखा था, उसकी जगह सोमा और ऋज्राश्व वहाँ पहुँचे। बड़ी रात तक पान, गीत, नृत्य महोत्सव मनाया गया। सोमा के गीत और ऋज्राश्व के नृत्य को सदा की भाँति कुरुओं ने बहुत पसन्द किया।

२

"मधुरा ! तू थक तो नहीं गई ?"

"नहीं, मुझे घोड़े की सवारी पसन्द है ?"

"किन्तु उन दस्युओं ने मुझे बुरी तरह पकड़ रखा था ?"

"हाँ, बाह्लीक पक्यों की गौओं और अश्वों को नहीं, बल्कि लड़कियों को लूटने आये थे।"

"हाँ पशु का लूटना दोनों जनों में चिरस्थायी शत्रुता पैदा करता है, किन्तु कन्या को लूटना थोड़े ही समय के लिए—आखिर ससुर को जमाता का सत्कार करना ही पड़ता है।"

"किन्तु मुझे तेरा नाम नहीं मालूम ?"

"अमृताश्व, कुच्छ्राश्व-पुत्र, कौरव।"

"कौरव ! कुरु मेरे मामा के कुल होते हैं।"

"मधुरा, अब तू सुरक्षित है। बोल कहाँ जाना चाहती है ?"

मधुरा के मुख पर कुछ प्रसन्नता की रेखा दौड़ने लगी थी, किन्तु वह बीच ही में रुक गई। अमृताश्व समझ गया, और बात का रुख दूसरी ओर मोड़ते हुए बोला—"पक्थों की कन्यायें हमारे ग्राम में भी आई हैं।"

"सभी लूटकर ?"

"नहीं,उनमें मातुल पुत्रियाँ अधिक हैं।"

"तभी तो। किन्तु लड़कियों के लिए यह लूट-मार मुझे बहुत बुरी मालूम होती है।"

"और मुझे भी मधुरा ! वहाँ पुरुष-स्त्री यह भी जानते हैं कि उनमें प्रेम की सम्भावना है भी।",

"मातुल-पुत्री का ब्याह इससे अच्छा है; क्योंकि उसमें पहले से परिचित होने का मौका मिलता है।"

"तेरा कोई ऐसा प्रेमी था मधुरा ?"

"नहीं, मेरी कोई बुआ नहीं है।"

"कोई दूसरा ?"

"स्थायी नहीं।"

"क्या तू मुझे भाग्यवान् बना सकती है ?"

"मधुरा की शर्मीली निगाहें नीची हो गई। अमृताश्व ने कहा—

"मधुरा! ऐसे भी जनपद हैं, जहाँ स्त्रियाँ दूसरे की नहीं,अपनी होती हैं।"

"नहीं समझी अमृताश्व।"

"उन्हें कोई लूटता नहीं, उन्हें कोई सदा के लिए अपनी पत्नी नहीं बना पाता। वहाँ स्त्री-पुरुष समान होते हैं।"

"समान हथियार चला सकते हैं।"

"हाँ, स्त्री स्वतन्त्र है।"

"कहाँ है वह जनपद, अमृत-आँ अमृताश्व !"

"नहीं अमृत ही कह मधुरा ! वह जनपद यहाँ से पश्चिम में बहुत दूर है।"

"तू वहाँ गया है अमृत ?"

"हाँ। वहाँ की स्त्री आजीवन स्वतन्त्र रहती है; जैसे जंगल में स्वतन्त्र विचरता मृग, जैसे वृक्षों पर उड़ती चिड़ियाँ।"

"वह बड़ा अच्छा जनपद होगा ! वहाँ स्त्री को कोई नहीं लूटता न ?"

"स्वतन्त्र बाघिन को कौन जीते जी लूट सकता है ?"

"और पुरुष, अमृत ?"

"पुरुष भी स्वतन्त्र है।"

"बाल-बच्चे।"

"मधुरा ! वहाँ का घर-बार दूसरी ही तरह का है; और सारे ग्राम का एक परिवार होता है।"

"उसमें बाप का कर्त्तव्य ?"

"बाप नहीं कह सकते मधुरा ! वहाँ स्त्री किसी की पत्नी नहीं, उसका प्रेम स्वच्छन्द है।"

"तो वहाँ कोई बाप को नहीं जानता ?"

"सारे घर के पुरुष बाप हैं।"

"यह कैसा रिवाज है ?"

"इसीलिए वहाँ स्त्री स्वतन्त्र है; वह योद्धा है, शिकारी है।"

"और गाय-घोड़ों का पालन-पोषण ?"

"वहाँ गाय-घोड़े जंगलों में पलते हैं, वैसे ही जैसे यहाँ हरिण।"

"और भेड़-बकरियाँ ?"

"वहाँ लोग पशु-पालन नहीं जानते। शिकार, मछली और जंगल के फल पर गुजारा करते हैं।"

"सिर्फ शिकार ! फिर उन लोगों को दूध नहीं मिलता होगा ?"

"मानवी का दूध और वह भी बचपन ही में।"

"घोड़े पर चढ़ना भी नहीं ?"

"नहीं। और चमड़े के सिवा दूसरा परिधान भी नहीं जानते।"

"उन्हें बड़ा दुःख होता होगा ?"

"किन्तु वहाँ की स्त्रियाँ स्वतन्त्र, पुरुषों की तरह स्वतन्त्र हैं। वह फल जमा करती हैं, शिकार करती हैं, युद्ध में शत्रुओं पर पाषाण-परशु और बाण चलाती हैं।"

"मुझे भी यह पसन्द है। मैंने शस्त्र चलाना सीखा है, किन्तु युद्ध में पुरुषों की भाँति जाने का सुभीता कहाँ ?"

"पुरुष ने यह काम अपने ऊपर लिया है। घोड़ों-गायों, भेड़-बकरियों को वह पालता है, स्त्री को उसने पशु-पत्नी नहीं, गृह-पत्नी बनाया है।"

"और लड़कियों को लूटने लायक बनाया है। वहाँ तो लड़कियाँ नहीं लूटी जाती होंगी, अमृत ?"

"एक जन के लड़के-लड़की सदा उसी जन में रहते हैं, न बाहर देना, न बाहर से लेना।"

"कैसा रिवाज है ?"

"वह यहाँ नहीं चल सकता।"

"इसलिए लड़कियाँ लूटी जाती रहेंगी ?"

"हाँ तो मधुरा ? क्या कहती है ?"

"किस बारे में ?"

"मेरे प्रेम के बारे में।"

"मैं तेरे वश में हूँ, अमृत।"

"किन्तु मैं लूटकर नहीं ले जाना चाहता।"

"क्या, मुझे युद्ध करने देगा ?"

"जहाँ तक मेरा बस होगा।"

"और शिकार करने ?",

"जहाँ तक मेरा बस होगा।"

"बस ?"

"क्योंकि मुझे महापितर की आज्ञा तो माननी पड़ेगी। अपनी ओर से मधुरा ! मैं मुझे स्वतन्त्र समझूँगा।"

"प्रेम करने न करने के लिए भी।"

"प्रेम हमारा सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। अच्छा उसके लिए भी।"

"तो अमृत ! मैं तेरा प्रेम स्वीकार करती हूँ।"

"तो हम कुरुओं में चलें या पक्थों में ?"

"जहाँ तेरी मर्जी।"

"अमृत ने घोड़े को लौटाया और वह मधुरा के बताये रास्ते से पक्थों के ग्राम में पहुँचा। ग्राम में किसी के तम्बूघर में कोई मारा गया

था; किसी में कोई घायल पड़ा था, किसी की लड़की लूटी गई थी। चारों ओर कुहराम मचा हुआ था। मधुरा की माँ रो रही थी और बाप ढाढ़स बँधा रहा था, जब कि घोड़ा उसके बालों के तम्बू के बाहर खड़ा हुआ।

अमृताश्व के उतर जाने पर मधुरा कूद पड़ी और अमृताश्व को बाहर खड़े रहने के लिए कहकर भीतर चली गई। एकाएक सामने आ खड़ी बेटी को देख, पहले माँ-बाप को विश्वास न हुआ। फिर माँ ने गोद में ले उसके मुख को आँसुओं से भिगोना शुरू किया। उसके शान्त होने पर बाप ने पूछा और मधुरा ने बतलाया—"वाह्लीक पक्थ लड़कियों को लूटकर ले जा रहे थे। मुझे लूटकर ले जाने वाला पिछड़ गया था। मौका पाकर मैं घोड़े से कूद गई। वह पकड़कर फिर चढ़ाना चाहता था। मैं उसका विरोध कर रही थी। उसी वक्त एक सवार आ गया, उसने वाह्लीक को ललकारा और उसे घायल कर गिरा दिया। वही कुरु तरुण मुझे यहाँ पहुँचाने आया है।"

बाप ने कहा—"तो तरुण ने तुझे नहीं ले जाना चाहा ?"

"बलात् नहीं।"

"किन्तु हमारे जनपद के नियम से अनुसार तू उसकी हुई।"

"और मैं उससे प्रेम भी करती हूँ, तात !"

मधुरा के बाप ने बाहर आकर अमृताश्व का स्वागत किया और उसे तम्बू के भीतर लिवा लाया। गाँव वालों को यह अजीब-सी बात मालूम हुई; किन्तु सभी के सम्मान और सहानुभूति के साथ अमृताश्व ने मधुरा के साथ ससुराल छोड़ी।

३

अब अमृताश्व अपने कुरु-ग्राम का महापितर था। उसके पास पचासों घोड़े, गायें तथा बहुत-सी भेड़-बकरियाँ थीं। उसके चार बेटे और मधुरा रेवड़ और घर का काम देखते थे। ग्राम के दरिद्र-कुलों के कुछ आदमी भी उसके यहाँ काम करते थे—नौकर के तौर पर नहीं, घर के एक व्यक्ति के तौर पर। एक कुरु को दूसरे कुरु से समानता का बर्ताव करना पड़ता। अमृताश्व के चलते-फिरते ग्राम में पचास से ऊपर

परिवार थे। आपसी झगड़ों, मामलों-मुकदमों को फैसला महापितर को ही देखना पड़ता। फिर पानी, रास्ते और दूसरे सार्वजनिक कामों का संचालन भी महापितर करता और युद्ध में—जो सदा सिर पर बैठा ही रहता—सेना का मुखिया बनना तो महापितर का सबसे बड़ा कर्त्तव्य था। वस्तुतः युद्धों में सफलता ही आदमी को महापितर के पद पर पहुँचाती हैं।

अमृताश्व एक बहादुर योद्धा था। पक्थों, बाह्लीकों तथा दूसरे जनों के अनेक युद्धों में उसने अपनी बहादुरी दिखलाई थी। मधुरा को दिये वचनों का उसने पालन किया। मधुरा ने अमृताश्व के साथ रीछ, भेड़िये और बाघ के शिकार ही नहीं किये थे, बल्कि युद्धों में भी भाग लिया था। यद्यपि जन-वालों में से किसी-किसी ने इसे पसन्द नहीं किया था, उनका कहना था, स्त्री का काम घर के भीतर है।

अमृताश्व जब पहले-पहल महापितर चुना गया, उस दिन कुरु-पुर महोत्सव मना रहा था। तरुण-तरुणियों ने आज के लिए अस्थायी प्रणय बाँधे थे। ग्रीष्म के दिनों में नदी की उपत्यका और पहाड़ पर घोड़ों और गायों के रेवड़ स्वच्छन्द चर रहे थे। गाँव वाले भूल गये थे कि उनके शत्रु भी हैं। पशुधन के होते ही उनके शत्रुओं की संख्या बढ़ती थी। जब कुरु-जन वोल्गा के तट पर था, उस वक्त उसके पास पशुधन नहीं था। उस वक्त उसे आहार जंगल से लेना पड़ता था; कभी शिकार, मधु या फल न मिलने से भूखा रहना पड़ता था। अब कुरुओं ने शिकार के कुछ पशुओं—गाय, घोड़े, भेड़, बकरी, खर को पालतू बना लिया था। वह उन्हें माँस, दूध, चमड़ा ही नहीं, बल्कि ऊन के वस्त्र भी देते। कुरुआनियाँ सूत कातने और कम्बल बुनने में कुशल। किन्तु यह कुशलता समाज में उनके पहले स्थान को अक्षुण्ण नहीं रख सकी। अब स्त्री नहीं पुरुष का राज्य है। जन-नायिका जन-समिति का नहीं, बल्कि लड़ाके महापितर का शासन है। जो जनमत का ख्याल रखते हुए भी बहुत कुछ अपने मन से निर्णय करता और सम्पत्ति ? जहाँ स्त्री के राज्य में परिवार का परिवार सदा एकत्र रहता, एक साथ काम करता; वहाँ अब अपना-अपना परिवार, अपना-अपना पशुधन और उसका हानि-लाभ भी अपने ही को था। हाँ, सबके संकट के वक्त जन फिर एक बार पुराने जन का रूप लेना चाहता था।

अमृताश्व महापितर के महोत्सव में मस्त जन को अपने पशुधन की फिक्र न थी। बाजे की आवाज पर थिरकते तरुण सिर्फ सोम सुरा और सुन्दरियों का ख्याल रख सकते थे। पहर रात रह गई थी, किन्तु नृत्य अब भी बन्द होना नहीं चाहता था। इसी वक्त चारों ओर कुत्ते जोर-जोर से भौंकते हुए उपत्यका के ऊपर के भाग की ओर दौड़ते मालूम हुए। अमृताश्व उन पुरुषों में था जो सोम को उतना ही पीने में आनन्द मानते हैं जितने में उनकी आँखों में लाली उतर आये और साथ ही होश-हवाश भी हाथ से जाने न पावे। कुत्तों की आवाज सुन, चुपके से उठ, उसने काठ के बेट वाली अपनी पाषाणी गदा को सँभाला और नदी के किनारे-किनारे आवाज आने की दिशा की ओर चलना शुरू किया। थोड़ी ही दूर जाने पर अस्ताचल पर पहुँचते चन्द्रमा की रोशनी में कोई स्त्री आती दिखाई पड़ी। वह ठहर गया। पास आने पर मालूम हुआ वह मधुरा है। मधुरा की साँस अभी तेजी से चल रही थी, उसने उत्तेजित स्वर में कहा—"पुरु हमारे पशुओं को हाँके लिए जा रहे हैं।"

"हाँके लिये जा रहे है ! और हमारे सारे तरुण नशे में चूर हैं ! तू कहाँ तक गई थी मधुरा ?"

"उतनी ही दूर तक जितने में कि मैं इतना जान सकी।"

"सारे पशुओं को ले जा रहे हैं ?"

"देर से जान पड़ता है, बिखरे रेवड़ को एकत्र करने में लगे हुए थे।"

"तू क्या सोचती है मधुरा ?"

"देर करने का समय नहीं !"

"और हमारे सारे तरुण नशे में चूर हैं।"

"जो चले सकें, उन्हें लेकर धावा बोलना चाहिए।"

"हाँ जरूर, लेकिन एक बात है मधुरा ! तुझे मेरे साथ नहीं चलना चाहिए। इन तरुणों का आधा नशा तो इस समाचार से ही उतर जाएगा और बाकी को दही खिलाना। जैसे-जैसे नशा उतरता जाय, वैसे-वैसे भेजती जाना।"

"और कुरुआनियाँ ?"

"मैं कुरुओं के महापितर की हैसियत से आज्ञा दे सकता हूँ; उन्हें युद्धक्षेत्र में उतरने की; उस पुरानी विस्मृत प्रथा को हमें जगाना होगा।"

"मैं आगे आने की कोशिश नहीं करूँगी; अच्छा जल्दी।"

महापितर की आज्ञा पर बाजे एकदम बन्द हो गये। नर-नारी महापितर के गिर्द जमा हो गये। सचमुच गो-अश्व-हरण की बात सुनते ही उनमें से कितनों का नशा उतर गया; उनके चेहरों पर प्रणय-मुद्रा की जगह वीर-मुद्रा छा गई। महापितर ने मेघ-गम्भीर स्वर में कहा—

"कुरुओं और कुरुआनियों ! पुरु शत्रुओं से हमें अपने धन को छीनना है। लड़ाई होगी। तुममें से जितने होश में हैं, अपने हथियार को ले, घोड़ों पर सवार हो, मेरे पीछे आयें। जो नशे में हों; मधुरा से दही लेकर खायें, और उतरते ही दौड़ आयें। कुरुआनियों ! आज तुम्हें भी मैं रणक्षेत्र में आने की आज्ञा देता हूँ। पुरानी कुरुआनियाँ युद्धक्षेत्र में पुरुषों के समान भाग लेती थीं; यह हम बृद्धों से सुनते आये हैं। आज तुम्हारा महापितर अमृताश्व तुम्हें इसकी आज्ञा देता है।"

दम के दम में चालीस घोड़े जमा हो गये। पुरु जितने पशुओं को जमा कर पाये थे, उन्हें उपत्यका के ऊपर की ओर भगाये लिये जा रहे थे। पर दो घंटे की दौड़ के बाद पौ फटते वक्त कुरुओं ने उन्हें देखा। घोड़ों और गायों के इतने झुण्ड को इकट्ठा कर उस पहाड़ी से दौड़ाते हुए हाँकना आसान काम न था। पुरु सवार अपने चमड़े के कोड़ों को हवा और पत्थरों पर पटक कर पशुओं को भयभीत कर रहे थे। अमृताश्व ने देखा, पुरुओं की संख्या सौ के करीब होगी। अपनी चालीस की टुकड़ी से लड़ाई शुरू करनी चाहिए या नहीं, इस पर ज्यादा मत्थापच्ची वह करना नहीं चाहता था।

उसने सींगों के लम्बे भाले को सँभाल कर दुश्मन पर हमला करने की आज्ञा दी।

कुरु वीर और वीरांगनाओं ने—हाँ, वीरांगनायें आधी से कम न थीं—निर्भय हो घोड़ों को आगे दौड़ाया। उन्हें देखते ही कुछ को पशुओं को रोक रखने के लिए छोड़, पुरु नीचे की ओर दौड़ पड़े; और घोड़ों से पूरा फायदा उठाने के लिए नदी के किनारे एक खुली जगह में खड़े हो, कुरुओं का इन्तजार करने लगे। अमृताश्व की आकृति उस वक्त देखने लायक थी। उसका घोड़ा अमृत और वह दोनों एक ही शरीर के अंग मालूम होते थे। हरिन के तेज सींग का उसका भाला एक बार जिसके

शरीर पर लगता, वह दूसरे बार के लिए अपने घोड़े पर बैठा नहीं रह सकता था। पुरुओं ने धनुष-बाण और पाषाण-परशु पर ज्यादा भरोसा कर गलती की थी, यदि उनके पास भी उतने ही सींग के भाले होते; तो निश्चय ही कुरु उनका मुकाबला नहीं कर सकते थे। एक घंटा संग्राम होते हो गया, कुरु अब भी डटे हुए थे, किन्तु उनके एक-तिहाई योद्धा हताहत थे, यह डर की बात थी। इसी वक्त तीस कुरु घुड़सवार ललकारते हुए संग्राम-क्षेत्र में पहुँचे। कुरुओं की हिम्मत बहुत बढ़ गई। पुरु बुरी तरह से मरने लगे। उनकी नाजुक हालत देख पशुओं को रोक रखने के लिए छोड़े हुए घुड़सवार भी आ पहुँचे; किन्तु इसी समय चालीस कुरु-कुरुआनियों का जत्था लिए मधुरा आ पहुँची। डेढ़ घंटा जमकर युद्ध हुआ। अधिकांश पुरु हताहत हुए, कुछ भाग निकले।

घायलों का खात्मा कर कुरु-वाहिनी पुरु-ग्राम की ओर बढ़ी। वह चार कोस ऊपर था। सारा ग्राम सूना था। लोग तम्बुओं को छोड़कर भाग गये थे। उनके पशु जहाँ-तहाँ चर रहे थे। किन्तु कुरुओं को पहले पुरुओं से निबटना था। पुरु बुरी तरह घिर गये थे; ऊपर भागने का उतना सुभीता न था। उपत्यका सँकरी होती गई थी और चढ़ाई कड़ी थी, तो भी प्राण बचाने के लिए नर-नारी घोड़ों पर भागे जा रहे थे। आखिर ऐसा भी स्थान आया; जहाँ घोड़ा आगे नहीं बढ़ सकता था। लोग पैदल चलने लगे। कुरु उनके नजदीक आ गये थे। बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ तेजी से नहीं बढ़ सकते थे; इसलिए उन्हें भागने का मौका देने के लिए कुछ कुरु-भट एक सँकरी जगह में खड़े हो गये। कुरु अपनी संख्या का पूरा इस्तेमाल नहीं कर सकते थे; इसलिए उन्हें इन पुरुओं से रास्ता साफ करने में कुछ घंटे लगे। पुरु और कुरु अब दोनों ही पैदल थे, किन्तु पुरुओं में मर्द मुश्किल से एक दर्जन रह गये थे। इसलिए वह कुछ ही दिनों तक सारे पुरु-परिवार की रक्षा कर सकते थे। उन्होंने एक दिन कुछ साहसी स्त्रियों को ले, एक दुरूह पथ पकड़, वह उपत्यका छोड़ दी और पहाड़ों को पार करते दक्खिन की ओर बढ़ गये। कुरुओं ने जहाँ-तहाँ छिपे प्राणों की भिक्षा माँगते पुरु बच्चों, वृद्धों और स्त्रियों को पकड़ा। बन्दी बनाना इस पितृ-युग के नियम के विरुद्ध था, इसलिए बच्चे से बूढ़े तक सारे ही पुरुषों को उन्होंने मार डाला।

स्त्रियों को वह अपने साथ लाये। पुरुओं का सारा पशु-धन भी उनका हुआ। अब वह हरित रोद (नदी) उपत्यका नीचे से ऊपर तक कुरुओं की चरागाह थी। एक पीढ़ी तक के लिए महापिता ने एक से अधिक पत्नी रखने का विधान कर दिया और इसी वक्त कुरुओं में पहले-पहल सपत्नी देखी गई।[1]

---

१. आज से दो सौ पीढ़ी पहले के एक आर्य-कबीले की यह कहानी है। उस वक्त भारत और ईरान की श्वेत जातियों का एक कबीला (जन) था और दोनों का सम्मिलित नाम आर्य था। पशुपालन उनकी जीविका का मुख्य साधन था।